संस्कृत और उसका साहित्य

संस्कृत-भाषा और साहित्य का परिचयात्मक विश्लेषण :

लेखक

डॉ० शान्तिकुमार नानूराम व्यास

सम्पादक : क्षेमचन्द्र 'सुमन'

सरस्वती सहकार, दिल्ली-शाहदरा
की ओर से प्रकाशक

राजकमल प्रकाशन

दिल्ली बम्बई इलाहाबाद पटना मद्रास

प्रकाशक
राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड,
दिल्ली

प्रथम संस्करण, दिसम्बर १९५७

मूल्य : रु० २.२५

मुद्रक :
श्री गोपीनाथ सेठ,
नवीन प्रेस, दिल्ली

निवेदन

स्वतन्त्र भारत के साहित्यिक विकास में भारत की भाषाओं तथा उपभाषाओं का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। आज यह अत्यन्त खेद का विषय है कि हमारे देश का अधिकांश पठित जन-समुदाय अपनी प्रादेशिक और समृद्ध जनपदीय भाषाओं के साहित्य से सर्वथा अपरिचित है। कुछ दिन पूर्व हमने 'सरस्वती सहकार' संस्था की स्थापना करके उसके द्वारा 'भारतीय साहित्य-परिचय' नामक एक पुस्तक-माला के प्रकाशन की योजना बनाई और इसके अन्तर्गत भारत की लगभग २८ भाषाओं और समृद्ध उपभाषाओं के साहित्यिक विकास की रूप-रेखा का परिचय देने वाली पुस्तकें प्रकाशित करने का पुनीत संकल्प किया। इस पुस्तक-माला का उद्देश्य हिन्दी-भाषी जनता को सभी भाषाओं की साहित्यिक गति-विधि से अवगत कराना है।

हर्ष का विषय है कि हमारी इस योजना का समस्त हिन्दी-जगत् ने उत्फुल्ल हृदय से स्वागत किया है। प्रस्तुत पुस्तक इस पुस्तक-माला का एक मनका है। आशा है हिन्दी-जगत् हमारे इस प्रयास का हार्दिक स्वागत करेगा। इस प्रसंग में हम इस पुस्तक के लेखक डॉ० शान्तिकुमार नानूराम व्यास के हार्दिक आभारी हैं, जिन्होंने अपने व्यस्त जीवन में से कुछ अमूल्य क्षण निकालकर हमारे इस पावन यज्ञ में सहयोग दिया है। राजकमल प्रकाशन के सञ्चालकों को भूल जाना भी भारी कृतघ्नता होगी, जिनके सक्रिय सहयोग से हमारा यह स्वप्न साकार हो सका है।

जी. १० दिलशाद कालोनी,
दिल्ली-शाहदरा

—क्षेमचन्द्र 'सुमन'

प्रस्तावना

संस्कृत के विशाल साहित्य के प्रायः सभी अंगों का परिचय देने का दुष्कर प्रयास इस लघु ग्रन्थ में किया गया है। विषय की विविधता, व्यापकता तथा स्थानाभाव के कारण बहुत-सी बातें सविस्तर नहीं दी जा सकीं; विशेषकर कवियों के काल-निरूपण एवं अन्य विवादग्रस्त प्रश्नों का विवेचन नहीं किया जा सका और उनका उल्लेख-मात्र करके सन्तोष करना पड़ा। फिर भी हाल ही में प्रकाश में आये हुए कुछ नवीन तथ्यों, विचार-धाराओं और खोजों का यथासम्भव उल्लेख कर दिया गया है। उपसंहार में आधुनिक संस्कृत-साहित्य के कतिपय ग्रन्थों और ग्रन्थकारों पर भी यत्किंचित् प्रकाश डाल दिया गया है। भावानुवाद-सहित अधिक-से-अधिक उद्धरण देकर मूल ग्रन्थों की शैली का आभास कराने की चेष्टा की गई है।

साहित्यिक रुचि वाले हिन्दी के पाठकों तथा विश्वविद्यालय के प्रारम्भिक छात्रों को समस्त संस्कृत-साहित्य का विशद विहंगावलोकन कराने और उन्हें उसके विस्तृत अध्ययन की ओर प्रेरित करने में यह पुस्तक पर्याप्त सहायक सिद्ध होगी, ऐसा मेरा विश्वास है। मैं उन पूर्वाचार्यों का बहुत-कुछ ऋणी हूँ जिन्होंने हिन्दी और अंग्रेजी में संस्कृत-साहित्य पर उद्बोधक ग्रन्थ लिखे हैं। उन सबकी तुलना में इस पुस्तक की विशेषता यही है कि इसमें विस्तार और संक्षेप दोनों के मध्य का मार्ग ग्रहण करते हुए समस्त संस्कृत-वाङ्मय की विविध शाखाओं का एक सरल, रोचक, सुगठित और सोदाहरण विश्लेषण उप-

स्थित किया गया है।

परिस्थितिवश यह पुस्तक नियत समय से बहुत विलम्ब के बाद तैयार की जा सकी है, फिर भी इस ग्रन्थमाला के सम्पादक श्री क्षेमचन्द्र 'सुमन' ने जिस धैर्य और सद्भावना के साथ पुस्तक-समाप्ति की प्रतीक्षा की है और अपनी माला में उसे पिरोकर मेरे प्रयास को सहृदय-संवेद्य बनाया है, तदर्थ मैं उनका आभारी हूँ।

साप्ताहिक हिन्दुस्तान, —शान्तिकुमार नानूराम व्यास
नई दिल्ली

क्रम

: १ :

संस्कृत भाषा : उत्पत्ति और विकास

भारत के इतिहास से यह स्वयं प्रकट है कि यहाँ भाषाओं के विकास और ह्रास के पीछे बड़े-बड़े धार्मिक और राजनीतिक परिवर्तनों का हाथ रहा है। उत्तरी भारत मे आर्य-सभ्यता स्थापित होने से पहले द्रविड़ भाषा और संस्कृति का बोल-बाला था, जिसने मोहंजोदड़ो और हड़प्पा की सभ्यता को जन्म दिया। सम्भव है, इस द्रविड़-संस्कृति ने पहले की और संस्कृतियों को अपने अन्दर समेट लिया हो। पर आर्य-सभ्यता स्थापित होने के बाद आर्यों की अपनी बोलियों ने पहले की भाषाओं की जगह ले ली।

ये आर्य-भाषाएँ प्रागैतिहासिक युग मे बनीं। अन्य भाषाओं की तरह उनके निर्माण-क्रम मे भी विशिष्ट अर्थ और व्यंजना वाले शब्दों का शनै-शनैः गठन होता गया। पर भारतीय आर्यों की विशेषता यह थी कि उन्होंने शब्द को एक निरी ध्वनि न मानकर मानव को सामाजिक एवं सांस्कृतिक व्यक्तित्व प्रदान करने वाली एक ईश्वरीय शक्ति के रूप मे ग्रहण किया। इस उदात्त भावना ने आर्य-भाषाओं को प्रारम्भ से ही प्राण-वान् बनाया।

इन आर्य-बोलियों का प्राचीनतम रूप वैदिक भाषा है, जो आज से लगभग ४,००० वर्ष पूर्व पश्चिमोत्तर भारत में प्रचलित थी। वैदिक भाषा का सर्वप्रथम दर्शन 'ऋग्वेद' के प्राचीन मंत्रों में होता है। इतना तो निर्विवाद है कि शब्द-सम्पत्ति और भाव-प्रकाशन की दृष्टि से उस युग में भी वह एक पर्याप्त समृद्ध भाषा थी और उसके पीछे एक लम्बी साहित्यिक परम्परा रही होगी। विशुद्ध आर्य-भाषा तो वह भी नहीं थी; उसमें अनेक देशी-विदेशी शब्दों का सम्मिश्रण अवश्य हुआ होगा। तत्कालीन आर्यों के उन्मुक्त जीवन के अनुरूप वह स्वच्छन्द और गतिशील भाषा थी, उसका रूप बदल रहा था। भाषा मनुष्य की सभ्यता और संस्कृति को अभिव्यक्त करती है; अतः ज्यों-ज्यों आर्यों का जीवन अधिक व्यवस्थित और रूढ़ बनता गया त्यों-त्यों उनकी भाषा का भी संस्कार और निखार होता गया। भाषा का यह परिवर्तित रूप 'ऋग्वेद' के दसवें मण्डल, यजुर्वेद संहिता और 'अथर्ववेद' के कतिपय अंशों में दीख पड़ता है।

विकास-क्रम की दृष्टि से वैदिक भाषा के बाद प्राचीन संस्कृत का युग आता है, जिसमें वेदोत्तर गद्य-साहित्य—'ब्राह्मण', 'आरण्यक', 'उपनिषद्' और 'सूत्रों'—की रचना हुई। इस भाषा में प्राचीन 'ऋग्वेद' के असामान्य शब्दों और धातुओं का प्रयोग बन्द हो चला और उनके रूप बहुत-कुछ उन्हीं नियमों से मिलते-जुलते हो गए जो बाद में पाणिनि ने निर्धारित किये। धातुओं का विभिन्न लकारों (क्रिया-रूपों) के अन्तर्गत वर्गीकरण हो गया। भाषा भी लगभग वैसी ही हो चली, जिसे बाद में लौकिक संस्कृत कहा जाने लगा। फिर भी वैदिक प्रभाव के कारण उसमें कुछ आर्ष-रूप एवं असाधारण प्रयोग बचे रह गए।

प्राचीन संस्कृत का विकास पौराणिक संस्कृत में जाकर हुआ, जिसमें 'रामायण', 'महाभारत', और कुछ प्राचीन पुराणों की रचना हुई। इस पौराणिक संस्कृत और बाद की लौकिक संस्कृत में कोई महत्त्व का भेद नहीं है, फिर भी यह उल्लेखनीय है कि पौराणिक संस्कृत में अनेक

आर्ष-रूप पाये जाते हैं और उसका रूप लोक-भाषा के अधिक निकट है।

इस अनियंत्रित विकास-क्रम के परिणामस्वरूप आर्यों की भाषा में वैषम्य का आ जाना स्वाभाविक था। अतएव वैयाकरणों ने भाषा के शब्द-भण्डार तथा प्रयोग के स्थिरीकरण का प्रयत्न किया और उसका नियमानुसार संस्कार करके 'संस्कृत' नामकरण किया। आर्य, द्रविड़, देशज और विदेशी भाषाओं से आये हुए अनेक नवीन प्रयोग, जो उस समय प्रचलित हो गए थे, स्वीकार कर लिये गए, तथा अनेक पुराने अव्यवहृत प्रयोग निषिद्ध मान लिये गए। भाषा का इस प्रकार वैज्ञानिक एवं सुसंस्कृत रूप निर्धारित करने वालों में पाणिनि, कात्यायन और पतंजलि ये मुनित्रय प्रमुख थे।

पाणिनि (५००ई० पू०) की 'अष्टाध्यायी' में संस्कृत को 'भाषा' अर्थात् बोली कहा गया है। स्थान-भेद एवं काल-भेद से इस बोली में परिवर्तन होता रहा। इसलिए दो-एक शताब्दी बाद पाणिनि की संस्कृत में कुछ हेर-फेर हो गया। उनकी 'भाषा' के अनेक शब्द एवं धातु अप्रचलित हो गए और उनके स्थान पर नये-नये प्रयोग आने लगे। अतएव पाणिनि के व्याकरण में संशोधन की आवश्यकता पड़ी। कात्यायन (३०० ई० पू०) ने 'वार्तिकों' की रचना करके इस कार्य को सम्पन्न किया। कुछ समय बाद इस व्याकरण में फिर से कुछ परिवर्तन-परिवर्धन करने की आवश्यकता पड़ी, जिसके लिए पतंजलि (१५० ई० पू०) ने अपने 'महाभाष्य' की रचना की।

इन वैयाकरणों ने लौकिक संस्कृत के युग का श्री गणेश किया, जिसमें उनके बाद का समग्र संस्कृत-साहित्य रचा गया। वास्तव में इन वैयाकरणों ने ही संस्कृत भाषा को 'संस्कृत' (शुद्ध, व्यवस्थित एवं स्थिरीकृत) बनाया। सहस्रों वर्ष पूर्व भाषा-व्यवस्था की जो रूपरेखा उन्होंने निर्धारित की थी, वह देश-काल के उत्थान-पतनों को पार करके आज भी अपने उसी मूल में स्थित है।

भाषा के अर्थ में संस्कृत शब्द का पहले-पहल प्रयोग 'वाल्मीकि-रामा-

यण' में हुआ है, जहाँ उसे 'संस्कृता' और 'संस्कृतम्' कहा गया है। टीकाकारों ने 'संस्कृत' का अर्थ 'व्याकरण-संस्कार-युक्त' (व्याकरण के नियमों से शुद्ध बनाई गई) किया है। जैसे शरीर का संस्कार (अलंकरण) स्नान, अनुलेपन, आभूषण आदि से होता है, वैसे ही भाषा का संस्कार (शुद्धीकरण) व्याकरण-ज्ञान से होता है :

'स्नानानुलेपनादिरंगसंस्कार, वाचो व्याकरणज्ञानादिज. संस्कारः ।'

आर्यों की इस सुसंस्कृत भाषा के मुख्य-मुख्य लक्षण ये है [1]— (१) यह भाषा योगात्मक है, अर्थात् किसी शब्द के अर्थ को बढ़ाने के लिए उसके साथ ध्वनि-तत्त्व जोड़ दिया जाता है। इस ध्वनि-तत्त्व की स्वतन्त्र सार्थकता दिखाई नहीं देती। यह तत्त्व अश्लिष्ट, श्लिष्ट तथा प्रश्लिष्ट होकर मूल शब्द के साथ जुड़ता है। इनके उदाहरण क्रमशः 'देवस्य', 'धार्मिक' और 'वैभव' दिये जा सकते हैं। (२) इस तरह के ध्वनि-तत्त्व इस भाषा मे तीन प्रकार के हैं—उपसर्ग, प्रत्यय तथा अन्तः-सर्ग; जैसे 'अभिनव', 'अतिरिक्त', 'अनुभव'; तथा 'सुप्त', 'कर्तव्य', स्पष्टतया'; और 'भाव', 'लेख', भौम' आदि में। (३) कभी-कभी एक से अधिक तत्त्व जोड़े जाते हैं; जैसे 'अत्याचार', 'आध्यात्मिकता', 'पाण्डित्य' आदि मे। (४) वाक्यों में शब्दो का परस्पर सम्बन्ध बताने के लिए भी संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण और क्रिया के साथ उनका योगात्मक प्रयोग होता है; जैसे 'रामस्य' (राम का), 'तेन' (उससे), 'महती कृपा' अथवा 'लघुना दण्डेन' (छोटे डण्डे से), 'भवति' (होता है) इत्यादि। (५) इसमें संज्ञा (एवं विशेषण) तथा सर्वनाम के आठ कारक, तीन वचन और तीन लिंग एवं क्रिया के परस्मै पद, आत्मने पद, उभय पद रूप-भेद के अतिरिक्त दस गण, तीन पुरुष, तीन वचन और लट् लकारादि भेदो से रूपान्तर होते हैं। (६) क्रिया मे लिंग-भेद नहीं होता। (७) कृदन्त का वैदिक में विशेषण के रूप में तथा संस्कृत में क्रिया के रूप मे

१. डॉ० हरदेव बाहरी—'हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास,' 'आलोचना', अंक ६, पृ० ६३।

प्रयोग होता है। (८) उच्चारण में संयुक्त अक्षरों का बाहुल्य है। (९) ट वर्ग के अक्षरों का प्रयोग क्रमशः बढ़ता रहा है तथा ॠ, ऌ और ष का व्यवहार घटता रहा है।

आज यह संस्कृत भारत के किसी भी भाग की लोक-भाषा नहीं है, पर एक समय था जब उसका क्षेत्र मध्य एशिया से यवद्वीप तक प्रसारित था। वह न केवल भारत की राष्ट्रभाषा थी, बल्कि समस्त एशिया की अन्तर्राष्ट्रीय भाषा थी। संस्कृत मे जो समृद्ध साहित्य उपलब्ध है तथा जो लोक-परम्पराएँ और जनश्रुतियाँ पिरोई हुई हैं, उनसे यह स्वतः सिद्ध है कि यह भाषा जन-जन की रसना पर अवश्य फलती-फूलती रही होगी। 'मरुद्वृद्धा' (पवन के साथ-साथ जिसका विस्तार हुआ हो)—यह वैदिक विशेषण संस्कृत के सर्वव्यापी प्रसार को मुखरित करता है। रामायण-महाभारत-काल मे संस्कृत स्पष्टतः एक जन-भाषा के रूप में प्रचलित थी। इन दोनों महाग्रन्थों का प्रारम्भ मे मौखिक रूप से पाठ-प्रचार होता था; सूत और मागध लोग उन्हें जन-समूहों में गा-गाकर सुनाया करते थे। अवश्य ही उनकी भाषा लोगों के लिए बोधगम्य रही होगी। वाल्मीकि ने लव-कुश को यह निर्देश दिया था कि तुम दोनों भाई आश्रमों मे, ब्राह्मणों के घरों मे, राज-मार्गों पर, यज्ञ-मण्डपों में तथा प्रासादों मे जाकर राम-चरित का गान करो।[1] इससे स्पष्ट है कि 'रामायण' की संस्कृत इन जनस्थानों मे अच्छी तरह समझी जाती होगी। इल्वल नामक राक्षस ब्राह्मण का रूप धारण करके संस्कृत बोलकर ब्राह्मणों को श्राद्ध मे निमंत्रित करता था।[2] हनुमान ने भी अशोक-वाटिका में पहुँचकर सीता को संस्कृत मे ही सम्बोधित करने का निश्चय किया था।[3]

---

१. ऋषिवाटेषु पुण्येषु ब्राह्मणावसथेषु च।
रथ्यासु राजमार्गेषु पार्थिवानां गृहेषु च॥ ७। ९३। ५

२. धारयन्ब्राह्मणं रूपमिल्वलः संस्कृतं वदन्।
आमंत्रयति विप्रान्स श्राद्धमुद्दिश्य निर्घृणः॥ ३। ११। ५६

३. वाचं चोदाहरिष्यामि मानुषीमिह संस्कृताम्। ५। ३०। १७

वैयाकरणों की रचनाओं से भी संस्कृत के बोल-चाल की भाषा होने के प्रमाण मिलते हैं। यास्क और पाणिनि ने संस्कृत बोली की पूर्वी और उत्तरी विशेषताएँ बतलाई हैं, जिनसे विदित होता है कि विभिन्न स्थानों में बोली जाने के कारण उसमें स्थानीय विशेषताएँ भी थीं। पाणिनि ने संस्कृत को 'लौकिक' अर्थात् दैनिक जीवन मे प्रयुक्त होने वाली कहा है। निम्न वर्ग के व्यक्ति भी सस्कृत जानते थे। 'महाभाष्य' में एक सारथी एक वैयाकरण के साथ 'सूत' शब्द की व्युत्पत्ति पर विवाद करता है।

प्रारम्भ मे आर्य-सस्कृति विन्ध्य-पर्वत के दक्षिण में नहीं फैली थी, किन्तु ईसा से बहुत पहले दक्षिण भारत मे उसका प्रसार हो चुका था और उसके साथ-साथ संस्कृत-भाषा का भी प्रचार हो गया। रामायण काल में दक्षिण में वैदिक संस्कृति का प्रचार हो चुका था। राक्षसों मे, जो दक्षिण भारत की एक अनार्य जाति के थे, संस्कृत का पठन-पाठन प्रचलित था। रावण स्वयं संस्कृत-भाषी था। हनुमान ने लंका में वैदिक मन्त्रों का विधि पूर्वक पाठ होते हुए सुना था। तृतीय शताब्दी ई० पू० मे हुए सस्कृत वैयाकरण कात्यायन दक्षिण-प्रदेश के निवासी थे। पतंजलि के समय में संस्कृत दक्षिण में अपना घर बना चुकी थी। उन्होंने दाक्षिणात्यो की कृदन्तों (धातुजन्य शब्दों) के प्रति रुचि का उल्लेख किया है। ईसा के बाद तो धीरे-धीरे दक्षिण में संस्कृत का प्रभाव पुष्टतर होता गया। तमिल और कन्नड साहित्य के विकसित होने के बाद भी वहाँ संस्कृत मे लिखे हुए शिला-लेख मिलते हैं। दण्डी (६०० ई०) ने अपने 'काव्यादर्श' मे संस्कृत लिखने की एक दाक्षिणात्य शैली का उल्लेख किया है। आठवीं शती में भगवान् शंकराचार्य ने दक्षिण में अद्वैत-दर्शन का प्रचार संस्कृत के माध्यम से ही किया था।

इस सम्बन्ध मे यह स्मरण रखना चाहिए कि प्रत्येक भाषा के साहित्यिक और व्यावहारिक दो रूप होते हैं। साहित्यिक रूप का प्रयोग शिक्षित एवं सम्भ्रान्त वर्गों में पाया जाता है, जब कि अन्य वर्गों में उसके प्रयोग-सुलभ लौकिक रूप के दर्शन होते हैं। प्राचीन काल मे

साहित्यिक संस्कृत उसी प्रकार शिक्षित एवं शिष्ट वर्ग की भाषा थी, जिस प्रकार आज खड़ी बोली है। पाणिनि ने 'शिष्टों' के अन्तर्गत आर्यावर्त के ब्राह्मणों को माना है, और इसी वर्ग में संस्कृत का विशुद्ध साहित्यिक स्वरूप सुरक्षित रहा। दूसरी ओर संस्कृत का एक जीवित भाषा की भाँति व्यवहार मे सार्लीकरण हुआ और उसमें व्याकरण की दृष्टि से कुछ त्रुटियाँ तथा स्थानीय विशेषताएँ भी आ गई। फलतः सामान्य जनता में 'कृषि', 'दृशि', 'दुग्धम्', 'मन्त्रस्य' और 'दक्षिण'-जैसे संस्कृत संयुक्ताक्षरों का 'कसि', 'दिसि', 'दुध्ध', 'मंत्तस्स' और 'दक्खिण' की तरह अशुद्ध उच्चारण होने लगा। व्याकरण का उद्देश्य शब्दो का सही रूप बताकर शिष्टों (सुसंस्कृत व्यक्तियों) की पहचान करने में सहायता देना है। प्राचीन ग्रन्थों मे संस्कृत के शुद्ध और ग्राम्य रूपो की ओर बहुत-से सकेत मिलते हैं। विभीषण ने रावण की सभा में जो भाषण दिया था, वह ग्राम्य दोषों से मुक्त एवं सार्थकता से परिपूर्ण था : **'वाक्यमग्राम्यपदवत्, पुष्कलार्थं विभीषणः'**।[1] मुनिवर भरद्वाज की वाणी उच्चारण एव स्वर की दृष्टि से निर्दोष थी : **'शिक्षास्वरसमायुक्तं सुव्रतश्चाब्रवीन्मुनिः'**।[2] जब हनुमान ने पहले-पहल राम से मिलकर उन्हें सुग्रीव का सन्देश सुनाया, तब राम हनुमान की भाषा की शुद्धता से बड़े विस्मित हुए और उन्होंने यह अनुमान लगाया कि अवश्य ही हनुमान ने वेदो और सम्पूर्ण व्याकरण-शास्त्र का स्वाध्याय किया होगा, तभी तो इतना बोल जाने पर भी उन्होंने एक भी शब्द का अशुद्ध उच्चारण नहीं किया :

> **नानृग्वेदविनीतस्य नायजुर्वेदधारिणः ।**
> **नासामवेदविदुषः शक्यमेवं विभाषितुम् ॥**

---

१. **'वाल्मीकीय रामायण'**, ६।३७।६
२ वही, २।९१।२२

नूनं व्याकरणं कृत्स्नमनेन बहुधा श्रुतम्।
बहु व्याहरताऽनेन न किंचिदपशब्दितम् ॥[1]

क्योंकि यहाँ भाषा की शुद्धता का कारण वेदों और व्याकरण का ज्ञान माना गया है, इसलिए यह कहा जा सकता है कि वेद-पाठी और व्याकरण-ज्ञाता वर्ग अन्य वर्गों की अपेक्षा अधिक शुद्ध एवं सुसंस्कृत भाषा का प्रयोग करता था।

कालान्तर में संस्कृत के उक्त दोनों रूपों का पार्थक्य स्पष्टतर होता गया। आर्यों की वर्ण-व्यवस्था ने जिस प्रकार समाज को उच्च और निम्न वर्गों में विभाजित किया, उसके परिणामस्वरूप उच्च जातियों की भाषा में और निम्न वर्ग की बोलियों में दूरी आती गई। ब्राह्मण-सभ्यता धार्मिक बन्धनों में फँसकर अपने को जितना ऊपर उठाती गई और अपनी भाषा को पवित्र बनाने के विचार से उसे व्याकरण और शुद्ध उच्चारण में कसती गई, उतने ही निम्न वर्ग के लोग उससे दूर होते चले गए। यह खाई उस समय स्पष्ट हुई जब जैन और बौद्ध धर्मों ने जन्म लिया और उनके प्रवर्त्तकों ने अपने धर्मों का प्रचार संस्कृत में न करके तत्कालीन लोक-भाषा पालि में किया, जिसमें संस्कृत के साहित्यिक तथा बोल-चाल वाले रूपों का मिश्रण है।

यह सत्य है कि इस नई चोट से विशुद्ध संस्कृत का व्यवहार टूटा नहीं, पर इतना अवश्य हुआ कि इस समय से भारतीय आर्य-भाषाओं के दूसरे युग का सूत्रपात हुआ, जिसमें संस्कृत के अतिरिक्त प्राकृतों—संस्कृत से निकली लोक-भाषाओं—को बढ़ने और फैलने का अवसर मिला। इसकी पुष्टि संस्कृत के प्राचीन नाटकों से होती है, जिनमें ब्राह्मण, राजा, मन्त्री आदि उच्च-वर्गीय पात्र संस्कृत बोलते हैं, जबकि निम्न वर्ग के लोग (जिनमें स्त्रियाँ भी सम्मिलित हैं) प्राकृत बोलते दिखाये गए हैं। इस युग में पालि, मागधी, अर्ध-मागधी, शौरसेनी तथा अन्य प्राकृत भाषाएँ भारत के

१. 'वाल्मीकीय रामायण', ४।३।२८-२९

विभिन्न भागों में अपनी जड़ें फैलाने लगी थी। यह दूसरा युग समाप्त नहीं हुआ था कि आर्य-भाषाओं मे फिर कुछ परिवर्तन होने लगे और प्राकृतों में संस्कृत-तत्सम शब्द कम होकर उनकी जगह तद्भव शब्दों का विकास हुआ। भाषा-विज्ञान मे इसे अपभ्रंशों का युग कहते हैं, जिसका प्रारम्भ ८वीं शताब्दी ईसवी में हुआ था। अपभ्रंश भारतीय आर्य-भाषाओं के दूसरे और तीसरे (या आधुनिक) युग को मिलाने वाली कड़ी है। अपभ्रंशों का यह क्रम वैसे तो १४वीं शताब्दी तक चलता रहा, परन्तु १००० ई० के लगभग भारत की आधुनिक भाषाओं का विकास प्रारम्भ हुआ।

यद्यपि ये सब स्वाभाविक कारण संस्कृत की उन्नति मे सहायक नहीं थे, तथापि ११वीं-१२वीं शती तक देश मे संस्कृत का पठन-पाठन व्यापक रूप से होता रहा और अनेक दरबारों में वह राज-भाषा के रूप मे समादृत रही। 'पंचतन्त्र' (३०० ई०)-जैसे नीति-ग्रन्थों की रचना राजकुमारों को व्यावहारिक ज्ञान की शिक्षा देने के साथ-साथ संस्कृत का बोध कराने के लिए भी की गई थी। वात्स्यायन के 'कामसूत्र' (४००ई०) के अनुसार सम्भ्रान्त नागरिक के लिए संस्कृत और अपनी 'देश-भाषा' दोनों का ज्ञान वाञ्छनीय था। सातवीं शती में आये चीनी यात्री ह्वेनसाग ने लिखा है कि बौद्धो के शास्त्रार्थों मे संस्कृत का अधिकृत रूप से प्रयोग होता था। भामह (७०० ई०) ने अपने अलंकार-ग्रन्थ मे ऐसी संस्कृत कविताओं की चर्चा की है, जिन्हे उच्चवर्गीय स्त्रियाँ और बालक भी समझ सकते थे। बिल्हण (११०० ई०) के अनुसार तो उनकी जन्म-भूमि काश्मीर की स्त्रियाँ तक अपनी मातृ-भाषा के अतिरिक्त संस्कृत और प्राकृत भी भली-भाँति जानती थीं।

इसी समय के आस-पास जब भारत पर मुस्लिम प्रभुत्व स्थापित होने लगा, तब संस्कृत के प्रचार एवं अनुशीलन मे बड़ी बाधा पड़ी और उसके ह्रास का युग आरम्भ हो गया। मुस्लिम-युग में संस्कृत के अनेकानेक पुस्तकालय नष्ट-भ्रष्ट कर दिये गए। हाँ, कुछ मुस्लिम शासकों

ने संस्कृत के प्रति अपनी अभिरुचि अवश्य दिखाई और संस्कृत के बहुत-से ग्रन्थों का अनुवाद अरबी-फारसी मे कराया। इसी युग में पंडितराज जगन्नाथ (१६५० ई०)-जैसे दिग्गज कवि हुए थे। राजपूत-नरेशों और मराठा-राजाओं से भी संस्कृत को प्रश्रय मिलता रहा। यह सब होते हुए भी संस्कृत के पुनरुत्थान के लिए अनुकूल वातावरण उत्पन्न न हो सका और वह पाठशालाओं, पण्डित-परिवारों तथा गिने-चुने स्थानों की थाती बनकर रह गई।

अंग्रेजों के आने के बाद पाश्चात्य भाषा एवं संस्कृति के प्रभाव से स्वयं हिन्दुओं ने संस्कृत के प्रति उपेक्षा दिखाई। पर यह तो अवश्य स्वीकार करना होगा कि अंग्रेजी शासन के २०० वर्षों मे संस्कृत-साहित्य की उत्कृष्टता का परिचय पाश्चात्य जगत् को प्रचुर मात्रा मे मिला। इस अवधि में अंग्रेज, अमरीकी, जर्मन, फ्रांसीसी, इटालवी, रूसी तथा दूसरे विदेशी विद्वानों ने संस्कृत का अध्ययन ही नहीं किया, प्रत्युत उसके सुप्रसिद्ध ग्रन्थ-रत्नों के अपनी-अपनी भाषाओं में सुबोध अनुवाद भी प्रस्तुत किये। इन पाश्चात्य विद्वानों ने एक नये विज्ञान—तुलनात्मक भाषा-विज्ञान—की नींव डाली और यह स्वीकार किया कि संस्कृत का यूरोप की प्राचीन और आधुनिक भाषाओं से घनिष्ठ सम्बन्ध है।[१] यही नही, उन्होंने संस्कृत के पठन-पाठन की एक ऐसी नई दिशा का सूत्रपात किया, जिसके प्रभाव से भारत मे संस्कृत-साहित्य का वैज्ञानिक दृष्टि से—शोध, आलोचना और तुलनात्मक अध्ययन के क्षेत्रों मे—मनन-मन्थन किया जाने लगा। इससे संस्कृत लोक-भाषा के रूप मे भले ही प्रतिष्ठित न हुई हो, पर उसके अध्ययन-अन्वेषण की एक बड़ी स्वस्थ एवं चेतनामयी धारा प्रवाहित हो गई तथा संस्कृत-साहित्य और भारतीय संस्कृति की अभूतपूर्व जानकारी हमारे राष्ट्र को प्राप्त हुई।

१. **उदाहरणार्थ, मातृ (संस्कृत), मातेर (लैटिन), माथिर (प्राचीन आयरिश), मदर (अंग्रेजी); सूनु (संस्कृत), सूनू (लिथुआनियन), सुनु (प्राचीन उच्च जर्मन), सन (अंग्रेजी)।**

आज हिन्दी के राष्ट्र-भाषा बन जाने के कारण भी सस्कृत की ओर राष्ट्र-सेवियों का ध्यान आकृष्ट हुआ है, क्योकि संस्कृत अधिकाश भारतीय भाषाओं की जननी है, और संस्कृत-जन्य हिन्दी को अपनाना अन्य प्रदेशो के लिए सहज-सरल सिद्ध हुआ है। भाव, भाषा, शब्द, व्याकरण, कल्पना, रस, छन्द, अलंकार, वस्तु, आदर्श और परम्परा सभी दृष्टियों से हिन्दी ने संस्कृत से उन्मुक्त दान पाया है। उत्तर भारत की प्रादेशिक भाषाएँ भी संस्कृत से निकली हुई हैं। आजकल की उर्दू तक मे, जो स्वयं एक भारतीय आर्य-भाषा है, ८० प्रतिशत शब्द संस्कृत या फारसी से आये हैं, और इन दोनो भाषाओं के मूल शब्द एक-से है। दक्षिण भारत की मलयालम, तेलुगु, कन्नड़ आदि भाषाएँ भी संस्कृत से उत्पन्न जान पड़ती हैं। यह तथ्य इन भाषाओं के अर्वाचीन रूप पर ध्यान देने से अधिक स्पष्ट हो जाता है। उनमे कभी-कभी तो संस्कृत-धातुएँ ही स्वीकार कर ली जाती हैं, यद्यपि उनके प्रत्ययो में संस्कृत-व्याकरण के अनुसार परिवर्तन नहीं दिखाई देता। तमिल मे भी, जिसका मूल अभी तक विवादास्पद है, अनेक संस्कृत-उक्तियाँ और मुहावरे ज्यो-के-त्यो हैं। कहा जाता है कि तमिल-व्याकरण का एक अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थ 'तोलकप्पियम्' 'ऐन्द्रम्' नामक संस्कृत-व्याकरण पर आधारित है। महात्मा गांधी के शब्दो मे **"संस्कृत हमारी भाषाओं के लिए गंगा नदी है। मुझे लगता रहता है कि यदि वह सूख गई तो भाषाएँ निर्माल्य बन जायेंगी।"**

भारत से बाहर लका की सिंहली भाषा पर भी संस्कृत का पर्याप्त प्रभाव पड़ा। यही नहीं, सस्कृत समुद्र पार करके सुदूरपूर्व के सुन्द, बोर्नियो, फिलिपाइन और जावा द्वीप तक में पहुँची और वहाँ की जन-भाषा एवं साहित्य के रूप में अपूर्व रूप से विकसित हुई। साहसी भारतीयो ने इन प्रदेशो में जाकर नये उपनिवेश बसाये तथा संस्कृत-भाषा और भारतीय संस्कृति का प्रसार किया। द्वितीय शताब्दी ई० से चम्पा (आधुनिक हिन्द चीन) तथा कम्बोडिया के शिला-लेखो मे सस्कृत

व्याकरण और साहित्य के अनुशीलन के प्रमाण मिलते हैं। इससे भी अधिक आश्चर्यजनक बात यह है कि संस्कृत के ग्रन्थों ने मध्य एशिया तक पहुँचकर चीन, तिब्बत और जापान पर प्रभाव डाला। यूरोप की भाषाओं मे संस्कृत के सर्वाधिक समीप लिथुआनियन है। वहाँ की स्लाव भाषा मे बहुत-से मूल शब्द संस्कृत से मिलते-जुलते हैं। वर्तमान थाईलैण्ड (स्याम) में जब नये पारिभाषिक शब्दो की जरूरत हुई तब अनेक शब्द संस्कृत के आधार पर बनाये गए थे। आज संस्कृत की उपमा एक ऐसे विशाल वट-वृक्ष से दी जा सकती है, जो अद्भुत जीवनी-शक्ति से परिपूर्ण है; जिसकी शाखाएँ-प्रशाखाएँ विभिन्न दिशाओ मे फूट चुकी हैं और प्रत्येक शाखा ने नई जड़ जमाकर नया स्वरूप बना लिया है। मूल वृक्ष जब तक जीवित है, तब तक उसकी शाखाएँ भी पुष्पित और पल्लवित हैं; प्रत्येक का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व होते हुए भी समूचे शाखा-समूह में एक अटूट एकता एव अभिन्नता है।

प्रायः यह कहा जाता है कि संस्कृत में भाषा की अपेक्षा व्याकरण और भाषा-शास्त्र को अधिक महत्त्व प्राप्त है, जिसके कारण उसका सामान्य वर्गों में प्रचार नहीं हो सका। यह बहुत-कुछ सही है। महा-भाष्यकार पतञ्जलि के बाद संस्कृत लोक-भाषा नहीं रही; वह मात्र साहित्यिक भाषा बनकर रह गई। उनके बाद सस्कृत मे कोई परिवर्तन नहीं हुआ, जो एक जीवित भाषा के लिए आवश्यक है; वह व्याकरण के जाल में ऐसी बँधी रह गई कि फिर कभी उससे मुक्त नहीं हुई। जहाँ सामान्यतः लोक-भाषा अपने व्यावहारिक प्रयोग से सीखी जा सकती है, वहाँ सस्कृत का ज्ञान पाने के लिए उसके व्याकरण से सुपरिचित होना अनिवार्य है।

आश्चर्य तो यह है कि व्याकरण का इतना कठोर नियन्त्रण होते हुए भी संस्कृत जीवित रही और पतञ्जलि के बाद हजार वर्षो तक विश्व के समक्ष एक ऐसा समृद्ध और चिरस्थायी साहित्य उपस्थित करती रही, जिसका व्यापकता, रोचकता, गम्भीरता और उपयोगिता की दृष्टि से

अपना कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं। इस साहित्य की रचना में, उसके पठन-पाठन और चिन्तन में भारत के अनेक श्रेष्ठतम मनीषी शताब्दियों तक लगे रहे, जिन्होंने साधारण-असाधारण सभी विषयों पर उत्कृष्ट-से-उत्कृष्ट ग्रन्थ लिखे और भारत की सांस्कृतिक परम्परा को अविच्छिन्न बनाये रखा। संस्कृत में काव्यों के अतिरिक्त कोश, अलंकार, संगीत, दर्शन, गणित, ज्योतिष, राजनीति, अर्थशास्त्र और आयुर्वेद, यहाँ तक कि चौर-शास्त्र, गृह-निर्माण, पाक-शास्त्र, काम-शास्त्र आदि पर भी चमत्कारी ग्रन्थ उपलब्ध हैं। स्कृत-साहित्य के ग्रन्थों की संख्या, विविध कारणों से अधिकतर नष्ट हो जाने पर भी, ५०,००० से ऊपर चली गई है। इनमें से बहुत-से अभी तक अज्ञात हैं अथवा भारत और यूरोप के संग्रहालयों में हस्तलिखित रूप में पड़े हैं। अन्वेषकों की खोज से वे यदा-कदा प्रकाश में आते रहते हैं।[1]

भारत के स्वतन्त्र होने के बाद संस्कृत की पुनर्जागृति का युग उदित हुआ है और हमारा ध्यान अपनी पुरातन भाषा और संस्कृति की ओर गया है। सदियों से सुप्तप्राय होने पर भी संस्कृत भाषा आज मृत नहीं है। उसकी सृजन-शक्ति निस्सीम है; मानव-चित्त के सब प्रकार के भावों को शब्दमयी मूर्ति प्रदान करने में उसकी क्षमता की सीमा नहीं। उसका साहित्य एक अतीत-साहित्य होते हुए भी उन तत्त्वों की चेतना का वहन करता है, जिनकी उपयोगिता या सार्थकता आज भी अक्षुण्ण है। उसे पढ़ने के लिए हम इसलिए प्रेरित होते हैं कि वह आज भी हमारे जीवन-स्पन्दन को वेगपूर्ण एवं समृद्ध बनाने की—हमारे व्यक्तित्व को अधिक

१. जर्मन विद्वान् थियोडोर आफ्रेक्ट (१८२२-१९०७) ने ४० वर्ष के अनवरत परिश्रम से संस्कृत-ग्रन्थों और उनके प्रणेताओं की एक विशाल सूची बनाई थी, जिसके मुद्रण में ही १३ वर्ष लग गए थे। इस विराट् सूची-पत्र का नया संस्करण भारत में मद्रास-विश्वविद्यालय के संस्कृत-विभाग द्वारा डॉ० वे० राघवन् के सम्पादकत्व में तैयार हो रहा है। उसका एक खण्ड प्रकाशित भी हो गया है।

सचेत, रसमय और सृजन-शील बनाने की—क्षमता रखता है। इसीलिए लोक-भाषा न होने पर भी संस्कृत को भारत के संविधान में स्वीकृत १४ भाषाओं में स्थान मिला है। "इस विशाल महादेश के विभिन्न प्रदेशों और विभिन्न युगों में जितने कर्मनिष्ठ, ज्ञानी, भक्त, योगी, साहित्यिक, दार्शनिक, वैज्ञानिक, ऐतिहासिक, राष्ट्र-नेता, समाज-नेता, धर्माचार्य, संगीताचार्य प्रभृति का उदय हुआ है, उन सबकी विचार-धारा, भाव-धारा और कर्म-धारा प्रायः संस्कृत भाषा को वाहन बनाकर ही जन-समाज में अव्याहत गति से प्रवाहित होती आ रही है। संस्कृत भाषा भारतीय प्राण की शब्दमयी मूर्ति है। भारत के अमर प्राण ने जिन समस्त युगों में तथा जिन समस्त क्षेत्रों में जितने तेज के साथ आत्म-परिचय प्रदान किया है, उन युगों में तथा उन क्षेत्रों में संस्कृत भाषा ने भी उतनी ही प्राणमयी और शक्तिमती होकर उस प्राण की साधना को रूप प्रदान किया है।'..........'संस्कृत भाषा ने ही समस्त भारतवर्ष को एक आदर्श में अनुप्राणित किया है, एक भाव से भावित किया है, एक जातीयता के सूत्र में ग्रथित किया है, एक ही सांस्कृतिक और आध्यात्मिक प्राण को सभी शरीरों में समुज्ज्वल कर डाला है। संस्कृत भाषा ने ही भारत के गौरवमय आसन को विश्व-मानव-समाज में प्रतिष्ठित किया है तथा उसे आज भी मलिन नहीं होने दिया है।"[1]

आज देश-भर में सम्भवतः २५,००० से अधिक लोग धारा-प्रवाह संस्कृत बोलते हैं। स्कूलों और कालेजों में संस्कृत पढ़ने वालों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ रही है। संस्कृत की पाठशालाओं की संख्या आज भी १०,००० से कम न होगी, जहाँ संस्कृतानुरागी अध्यापक और छात्र उसका एक जीवित माध्यम के रूप में प्रयोग करते हैं। पाँच लाख से अधिक पुरोहिती के कार्य में लगे हुए हैं, जिसमें संस्कृत देववाणी के रूप

१. श्री अक्षयकुमार बन्द्योपाध्याय—'भारतीय संस्कृति और संस्कृत-शिक्षा', ('कल्याण', मई १९५०)।

में व्यवहृत होती है। बीस करोड़ लोगों के जीवन में जन्म, विवाह, मृत्यु, प्रार्थना और रीति-रस्म के अवसरों पर संस्कृत-मन्त्रों के मधुर उच्चारण एवं घोष की ध्वनि होती है।[1] भारतीयों के जीवन का ताना-बाना 'रामायण', 'महाभारत' और 'भागवत' की प्रासंगिक कथाओं, पात्रों, भावनाओं और मुहावरों से बुना हुआ है। संस्कृत में नाटकों का अभिनय, पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन, ग्रन्थों का प्रणयन एवं विद्वत्परिषदों का आयोजन आज भी होता है। अन्य भाषाओं के माध्यम से संस्कृत-विद्या को प्रकाश में लाने वाली पुस्तकें और अनुसन्धान-पत्रिकाएँ भी काफी निकलती हैं। प्राच्य-विद्या-परिषद् के अधिवेशनों तथा देश-विदेश में स्थापित अन्वेषण-केन्द्रों द्वारा संस्कृत-साहित्य में सांस्कृतिक एवं वैज्ञानिक शोध-कार्य को प्रोत्साहन एवं दिशा-निर्देश मिल रहा है। 'वेदों', 'रामायण', 'महाभारत', 'पुराण' आदि के प्रामाणिक संस्करण तैयार हो रहे हैं और भारत, यूरोप तथा अमरीका के विश्वविद्यालयों में संस्कृत-साहित्य के विविध अंगों पर शोध-प्रबन्ध तैयार हो रहे हैं। संस्कृत का महान् सम्बल हिन्दी को अपने अभ्युदय-मार्ग पर अग्रसर कर रहा है। ग्रीक और लैटिन की सहायता से जैसे यूरोपीय भाषाओं ने अपने पारिभाषिक वैज्ञानिक शब्दों की समस्या को हल किया है, उसी प्रकार हिन्दी भी संस्कृत की शक्ति से, जो ग्रीक-लैटिन से धातु-प्रत्ययों में कहीं अधिक समृद्ध है, हल कर सकती है। धातुओं से अनेक कृदन्त बनाने की जैसी सामर्थ्य संस्कृत में है वैसी किसी दूसरी भारोपीय वर्ग की भाषा में नहीं। संस्कृत हमारे लिए कामधेनु के समान है। राष्ट्र-निर्माण में उसका भविष्य उज्ज्वल है।

---

१. श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी—'भारतीय-युग-परम्परा में संस्कृत', ('सम्मेलन-पत्रिका', भाग ३८, संख्या ३)।

: २ :

वैदिक साहित्य

'वेद' का शाब्दिक अर्थ ज्ञान है और वेदों का उद्देश्य अपने समय का समस्त ज्ञान-विज्ञान एकत्र कर देना था। भारतीय साहित्य, दर्शन एवं जीवन वेदों से अत्यधिक अनुप्राणित हुए हैं। भारत के सभी शास्त्रों का बीज वेदो मे ढूँढ़ा जा सकता है। संसार की प्राचीनतम रचनाएँ होने के कारण वेद आदि-मानव-संस्कृति के अन्वेषण के लिए बहुमूल्य हैं। पौर्वात्य और पाश्चात्य विद्वानो ने उनका अध्ययन गवेषणा पूर्वक किया है, जिससे अनेक नवीन विषयो पर प्रकाश पड़कर विश्व के ज्ञान-भण्डार की श्री-वृद्धि हुई है।

वैदिक साहित्य के अन्तर्गत तीन प्रकार की रचनाओं का समावेश होता है—(१) संहिता, जिनमे देव-स्तुति आदि के मन्त्रों का संग्रह है; (२) ब्राह्मण, जिनमें यज्ञ-याग का विस्तृत वर्णन है; तथा (३) आरण्यक और उपनिषद्, जिनमें अरण्यवासी ऋषि-मुनियों के दार्शनिक सिद्धान्तों का विवेचन है। इनके अतिरिक्त वेदाग आदि कुछ अन्य ग्रन्थ भी हैं, जो वैदिक साहित्य के परिशिष्ट माने जाते हैं।

प्रारम्भ मे वेदो के मन्त्र वंश-परम्परा या गुरु-शिष्य-परम्परा से सुन-

कर याद कर लिए जाते थे। इसीलिए वेदों को श्रुति कहते है। बाद में लिखने की कला का प्रचार होने पर वे संहिताओं (संग्रहों) के रूप में लिपिबद्ध कर लिए गए। संहिताएँ चार है—'ऋग्वेद', 'यजुर्वेद', 'सामवेद' और 'अथर्ववेद'। 'ऋग्वेद' में पूर्णतया ऋक् अर्थात् पद्य-मन्त्र हैं; 'यजुर्वेद' मे मुख्यतया यजुष् अर्थात् गद्य-मन्त्र हैं; 'सामवेद' मे सभी गेय मन्त्र हैं तथा अथर्ववेद में पद्य-मन्त्रों का बाहुल्य है। आरम्भ मे प्रथम तीन वेदों की ही प्रसिद्धि हुई और उनकी पहचान 'त्रयी' के नाम से होती थी। रामायण-काल तक वेदों का उल्लेख करते समय 'अथर्ववेद' को छोड़ दिया जाता था। वैदिक मन्त्रों का शुद्धता से उच्चारण करने के लिए उन्हें स्वर पूर्वक पढ़ने का विधान है। स्वर तीन है—उदात्त, अनुदात्त, और स्वरित।

प्राचीन प्रणाली के भारतीय पण्डित वेदों को अनादि और अपौरुषेय मानते हैं। पर ऐतिहासिक दृष्टिकोण वाले आधुनिक अनुसन्धानकर्ताओं ने उनके रचना-काल के विषय में बहुत ऊहापोह की है और विभिन्न आधारों पर अनेक प्रकार के निश्चित-अनिश्चित अनुमान लगाये है। ऐसा करते समय उन्होंने पुरातत्त्व, ज्योतिष, भूगोल, खगोल, इतिहास, भाषा-विज्ञान, भूगर्भ-शास्त्र तथा वेदों के अन्तःप्रमाण-जैसे साधनों का सहारा लिया है। भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों के मतों में हजारों वर्षों का अन्तर है। इतना तो निश्चित है कि समग्र वैदिक साहित्य की रचना में शताब्दियों का समय लगा होगा। कुछ भारतीय विद्वान् मन्त्रों में आए हुए छुट-पुट शब्दों तथा भूगर्भ-शास्त्र के आधार पर वैदिक साहित्य का प्रारम्भ ५०,००० से लेकर ७५,००० वर्ष ईसवी-पूर्व तक ले जाने की चेष्टा करते हैं। पर इतनी प्राचीनता भाषा-विज्ञान द्वारा निर्धारित तथ्यों से मेल नहीं खाती। लोकमान्य तिलक और जर्मन विद्वान् याकोबी ने खगोल और ज्योतिष के आधार पर वेदों का रचनाकाल लगभग ४, ५०० वर्ष ई० पू० स्थिर किया है। लोकमान्य तिलक ने तो कुछ मन्त्रों की रचना ६,५०० और ८,५०० ई० पू० तक की मानी

है आधुनिक विद्वानों में डा० विण्टरनित्स का यह मत ही अधिक ग्राह्य माना जाता है कि वैदिक साहित्य का प्रारम्भ ईसा से लगभग २,००० या २,५०० वर्ष पूर्व हुआ और ७५०-५०० ई० पू० तक वह सम्पूर्ण हुआ। पर मोहंजोदड़ो की खुदाई के बाद वेदों को इससे और प्राचीन प्रमाणित करने की प्रवृत्ति रही है।

ऋग्वेद

वेदों में 'ऋग्वेद' सबसे प्राचीन है। मैक्समूलर ने उसे 'आर्य जाति के मनुष्य द्वारा कहा गया पहला शब्द' बताया है। उसमें १० मण्डलों में विभक्त १,०२८ सूक्त हैं, जिनके कर्तृत्व का श्रेय विभिन्न ऋषियों और उनके वंशजों को है। औसतन १० पद्य या मन्त्र होते हैं। सभी मण्डलों के सूक्त एक-से प्राचीन नहीं हैं। दूसरे मण्डल से सातवें मण्डल तक के सूक्त प्राचीनतर हैं। इनके कर्त्ता क्रमशः गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भरद्वाज और वसिष्ठ नाम के ऋषि-परिवार थे। पहले, आठवें और दसवें मण्डलों में से प्रत्येक के रचयिता एक से अधिक ऋषि-परिवार थे। कई सूक्तों की रचना शची, घोषा, लोपामुद्रा आदि महिलाओं ने भी की। 'ऋग्वेद' में १६ प्रकार के छन्दों का प्रयोग हुआ है, जिनमें तीन—गायत्री, त्रिष्टुप् और जगती—अधिक प्रचलित हैं।

'ऋग्वेद' और अन्य वेदों की भाषा संस्कृत से बहुत भिन्न है, इस-लिए उसके अर्थ को समझने के लिए वैदिक कोशों और भाष्यों का आश्रय लिया जाता है। यास्क (५०० ई० पू०) के 'निरुक्त' में 'ऋग्वेद' के अनेक मन्त्रों का अर्थ स्पष्ट किया गया है। चौदहवीं शती में सायण ने 'ऋग्वेद' पर एक भाष्य लिखा, जिसमें 'ऋग्वेद' के प्रत्येक शब्द को समझाया गया है। वेदार्थ को समझने में यह सर्वाधिक सहायक है। किन्तु पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि यास्क और सायण प्रायः एक ही शब्द या पद्यांश का विभिन्न स्थलों पर विभिन्न अर्थ देते हैं और इस कारण वेदों का सही अर्थ केवल उनकी टीकाओं के आधार पर नहीं

निर्धारित किया जा सकता। इसके लिए हमें विषय और आकार-प्रकार में मिलते-जुलते स्थलों की—सन्दर्भ, व्याकरण और व्युत्पत्ति की दृष्टि से—तुलना करनी होगी तथा प्राचीन ईरानी धर्म-ग्रन्थ 'अवेस्ता' (जिसका भाषा और विषय में 'ऋग्वेद' से बहुत साम्य है) और तुलनात्मक भाषा-विज्ञान की सहायता लेनी होगी। आधुनिक अन्वेषकों ने इसी पद्धति का अनुसरण करके वेदों का मर्म जानने की चेष्टा की है और सायण के भाष्य को सर्वांश में स्वीकार नहीं किया है।

इसके विपरीत सायण के समर्थक पं० रामगोविन्द त्रिवेदी ने अपने 'वैदिक साहित्य' (पृ० ४१) में लिखा है कि वेद में आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक ये तीन प्रकार के अर्थ यथास्थान आए हैं। इनमें से किसी एक को लेकर शेष सारे मन्त्रों की खींचतान करके एक-सा ही अर्थ निकालना एकपक्षीय मनोवृत्ति का परिचायक है। सायणाचार्य ने निरपेक्ष होकर तीनों अर्थों को यथास्थान दिया है। इसीलिए उन्होंने 'इन्द्र' का अर्थ ईश्वर, देव, ज्ञान और विद्युत् तक लिखा है, और 'वृत्र' का अर्थ असुरराज, असुर, अज्ञान और मेघ तक। जहाँ जिस भाषा और जिस वाद का कथन है, वहाँ उसका उल्लेख करके सायण ने अर्थ-समन्वय किया है।

'ऋग्वेद' के अधिकांश सूक्त विभिन्न देवी-देवताओं की स्तुतियाँ हैं। वैदिक आर्य मुख्यतः प्रकृति-पूजक थे और उनके देव प्रकृति-जगत् के ही रूप-रूपान्तर हैं। जाज्वल्यमान रश्मिवन्त सूर्य, रात्रि के समय मधु-वर्षा करता हुआ सुखद-शीतल चन्द्रमा, यज्ञ-वेदी पर या पाकशाला में धधकती प्रज्वलित अग्नि, मेघों में से तीर की तरह निकल पड़ने वाली विद्युत्, दिन का स्वच्छ और चमकता हुआ अथवा रात का नक्षत्र-मण्डित आकाश, जिसका कोई पारावार नहीं, गरजता-बरसता तूफान और नदियों की प्रवाहित होने वाली वेगवती जल-धारा—प्रकृति की अचिन्त्य शक्ति के प्रतीक इन चेतन-रूपों में आर्यों की तेजस्वी और अस्पृष्ट कल्पना ने देवत्व के दर्शन किये। 'ऋग्वेद' के मन्त्रों में अनेक देवताओं

को प्राकृतिक जगत् के अधिष्ठाता मानकर उनका आवाहन एव स्तवन किया गया है। इन मन्त्रो का यज्ञो मे घृत की आहुति देते समय उच्चारण किया जाता था। देवताओं की संख्या ३३ थी, जिनमे से प्रमुख ये है—आकाश के देवता द्यौः और वरुण; सौर-मण्डल के देवता सूर्य, मित्र, सवितृ, पूषन् और विष्णु ; प्रभात के देवता अश्विनौ और ऊषा; अन्तरिक्ष के देवता इन्द्र, अपा नपात्, रुद्र, मरुत्, वायु, पर्जन्य और आप; धरातल के देवता पृथिवी, अग्नि और सोम, तथा सिन्धु, विपाशा, शतद्रु और सरस्वती नदियाँ।

इन देवो पर मानव-रूप आरोपित किया गया है, परन्तु उनके अंग-प्रत्यंग वास्तव में प्राकृतिक उपादानों के ही प्रतीक हैं। सूर्य के हाथ उसकी रश्मियाँ हैं; अग्नि की जीभ उसकी ज्वाला है। इन्द्र और मरुत् की योद्धाओं तथा अग्नि और बृहस्पति की पुरोहितो के रूप मे कल्पना की गई है। सभी देवता दिव्य रथो में भ्रमण करते हैं। उनका भोजन मानवो का-सा है। यह भोजन उन्हे यज्ञो मे अर्पित किया जाता है, जो अग्नि द्वारा उन तक पहुँचाया जाता है, अथवा जिसे ग्रहण करने के लिए वे स्वय अपने दिव्य रथों मे बैठकर यज्ञ-भूमि मे आते है। सोमरस उनका प्रिय पेय है। बल, वीर्य, शक्ति एवं तेज के वे आधान हैं। वे प्रकृति-जगत् की व्यवस्था, सज्जनता की रक्षा और दुष्टो का पराभव करते हैं। उनकी सर्वत्र अप्रतिहत गति है। भक्तो की कामनाओ के वे पूरक हैं। उनके विधानो का विरोध नहीं किया जा सकता।

वैदिक आर्य अनेक देवो के पूजक होते हुए भी यह भलीभाँति जानते थे कि समस्त देव एक ही सर्वव्यापी परमेश्वर के विविध रूप हैं :

एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति (१।१६६।४६!

अग्निं यमं मातरिश्वानमाहु

'परमात्मा एक है तो भी विद्वान् उन्हें अग्नि, यम, मातरिश्वा आदि अनेक नामो से पुकारते हैं।'

वैदिक देव-स्तुतियों में सकाम उपासना अधिक दृष्टिगोचर होती है;

उनमे देवताओं से धन-धान्य, सुख-शान्ति और पुत्र-पौत्रों की याचना की गई है। हिंस्र पशुओं और चोर-लुटेरो से रक्षा, मणि-सुवर्ण की प्राप्ति, इष्ट-सिद्धि, निर्मल बुद्धि की उपलब्धि, अपराधों के लिए क्षमा आदि अनेक सूक्तों के विषय है। कुछ उदाहरण देखिए :

इन्द्र आशाभ्यस्परि सर्वाभ्यो अभयं करत्
जेता शत्रून् विचर्षणिः। २।४१।१२

'हे शत्रुओं के विजेता इन्द्रदेव, हमें समस्त दिशा-विदिशाओं में निर्भय बना दो।'

यच्चिद्धि ते विशो यथा
प्रदेव वरुण व्रतम्।
मिनीमसि द्यवि द्यवि॥ १।२५।१

'हे वरुण, हम अविवेकीजन दिन-रात तुम्हारी आज्ञाओं का भंग और व्रत-पालन में प्रमाद करते है, हमें अपनी संतति समझकर क्षमा कर दो और हमारा उद्धार करो।'

कहीं-कहीं विशुद्ध भक्ति की छटा दिखाई दे जाती है :

सोम रारन्धि नो हृदि
गावो न यवसेष्वा
मर्य इव स्व ओक्ये। १।९१।१३

'जैसे मनुष्य अपने घरो में रहते हैं और गौएँ जैसे जौ का खेत चरती हैं, वैसे ही हे सोम, हमारे हृदय में रम जाओ, उसे अपना निवास-स्थान बना लो!'

'ऋग्वेद' मे पर्याप्त साहित्यिक सौन्दर्य है। उसकी भाषा लौकिक संस्कृत की अपेक्षा अधिक नैसर्गिक, सरल एवं प्रवाहपूर्ण है। वैदिक ऋषियो का छन्द-कौशल एवं भाषा पर अधिकार दर्शनीय है। क्या निराडम्बर और क्या आलंकारिक, दोनो प्रकार के वर्णनों में उन्होंने कमनीय काव्य-कला का प्रदर्शन किया है। अवसर के अनुरूप उन्होंने कहीं सौन्दर्य-भावना का आधिक्य दिखलाया है तो कहीं तेजस्विता का

प्राचुर्य; कहीं स्वभावोक्ति का आश्रय लिया है तो कहीं हृद्‌गत कोमल भावों की अभिव्यक्ति की है। ऊषा की स्तुतियों में विद्वानों ने गीति-काव्य का प्रथम उद्‌गम माना है। प्रतिदिन क्षीयमाण मानव-जीवन की तुलना में अमरत्व की प्रतीक चिरयौवना उषा को प्रकट होते देखकर कवि का समस्त अन्तर उल्लासमयी कविता के रूप में फूट पड़ता है। 'अन्धकार का कपड़ा उतारकर अरुणवर्णा ऊषा पूर्व में अँगड़ाइयाँ ले रही है। पानी की लहरों की तरह उसका प्रकाश चारों ओर फैल रहा है। वर्षा-धारा की तरह उसकी किरणें फूट रही हैं। स्वर्ग के दो कपाटों को खोलती हुई वह कल्याणी तरुणी गृहिणी की भाँति अपने सभी सोते हुए बच्चों को जगा रही है।' कुमारी, प्रेमिका, माता, पुंश्चली—नारी का ऐसा कौन-सा पक्ष है जिसकी झाँकी ऊषा के रूप में नहीं देखी जा सकती?

अधि पेशांसि वपते नृतूरिवापोर्णु ते वक्ष उस्रेव वर्जहम्।
ज्योतिर्विश्वस्मै भुवनाय कृण्वती गावो न व्रजं व्युषा आवर्तमः॥ १।९२।४

'नर्तकी की भाँति ऊषा अपना रूप उद्‌घाटित करती है। दुहने के समय गौएँ जैसे अपने स्तन का अधःभाग प्रकट करती हैं, वैसे ही ऊषा भी अपना वक्ष प्रदर्शित करती है। जिस प्रकार गौएँ शीघ्रता से अपने गोष्ठ में जाती हैं, उसी प्रकार ऊषा भी पूर्व दिशा में जाकर सारे संसार के अन्धकार को दूर करती है।'

'ऋग्वेद' के लगभग २० सूक्त देवता-विषयक न होकर लौकिक विषयों से सम्बन्धित हैं। एक सूक्त में वर्षा के आगमन पर टर्र-टर्र करने वाले मेढकों की तुलना वेदपाठी ब्राह्मणों से की गई है। विवाह-विषयक भी एक सूक्त है। पाँच सूक्त मृत्यु के सम्बन्ध में हैं। एक सूक्त में जुआरी का करुण विलाप है।

'ऋग्वेद' के अध्ययन से प्राचीन आर्यों की भौगोलिक, कौटुम्बिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक और राजनीतिक स्थिति पर प्रचुर प्रकाश पड़ता है। उस समय तक आर्यों का प्रसार समस्त भारतवर्ष में नहीं हुआ था और वे मुख्यतः वर्तमान पंजाब प्रदेश में ही बसे हुए थे।

पूर्व की ओर बढ़ने में उन्हें कृष्णवर्णों के दस्युओं (आदिवासियों) से बार-बार जूझना पड़ता था। 'ऋग्वेद' में ऐसे युद्धों का प्रायः उल्लेख आया है। जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण आशा और उत्साहपूर्ण था। शस्य-श्यामला वसुन्धरा के वैभव के रूप में देवताओं के अगाध प्रसाद को देखकर वे गद्‌गद हो उठते थे :

मधु वाता ऋतायते
मधु क्षरन्ति सिन्धवः।
माध्वीर्न सन्त्वोषधीः॥

'मधुवर्षिणी हवाएँ बह रही हैं; सदा प्रवाहित होने वाली ये नदियाँ मधु का विस्तार कर रही हैं। मानव-मात्र के लिए औषधियाँ मधुमयी हों।'

वैदिक मन्त्रों के शुद्ध रूप की रक्षा के लिए ऋषियों ने उनके शब्दों को भिन्न-भिन्न तरह से सजाकर कई पाठ बनाये, जिससे यदि समय के प्रवाह में मूल पाठ में अशुद्धि आ जाय तो अन्य पाठों के आधार पर उसका निराकरण किया जा सके। पद-पाठ में मूल मन्त्रों का पदच्छेद किया गया है। उदाहरणार्थ : 'अग्निमीले पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्' इस मूल मन्त्र को पद-पाठ में इस तरह पढ़ा जायगा—'अग्निम् ईले, पुरः हितम् यज्ञस्य देवम् ऋत्विजम्।' क्रम-पाठ में उसका रूप इस प्रकार होगा—'अग्नि ईले ईले पुरोहितम्, पुरोहितं यज्ञस्य यज्ञस्य देवम्, देवं ऋत्विजम्।' जटा-पाठ और घन-पाठ में शब्द और विचित्र ढंग से दोहराये जाते हैं। इन पाठों को पुनः मूल पाठ में परिवर्तित करने के लिए 'प्रातिशाख्यों' ने नियम दिये गए हैं। 'अनुक्रमणियों' ने 'ऋग्वेद' के सूक्तों, मन्त्रों, शब्दों और अक्षरों तक की संख्या गिनाई गई है। इन सबका उद्देश्य प्रक्षेपों से वेदों की रक्षा करना था।

अन्य वेद

'ऋग्वेद' के मन्त्रों की अन्य वेदों में पूर्णतः या अंशतः पुनरुक्ति पाई जाती है, इसलिए यह कहना बहुत-कुछ संगत है कि 'ऋग्वेद' के

सविस्तर अध्ययन से प्रायः चारो वेदो का स्वाध्याय हो जाता है। 'यजुर्वेद' के बहुत-से मन्त्र 'ऋग्वेद' से लिये गए हैं, परन्तु उसका लगभग आधा हिस्सा मौलिक है और गद्य में रचित है। 'यजुर्वेद' में यज्ञों और कर्म-काण्ड का प्राधान्य है; उसमें विविध यज्ञ-क्रियाओं के मन्त्र और उनकी विधियाँ संगृहीत हैं। 'यजुर्वेद' के दो भाग हैं—कृष्ण और शुक्ल। 'कृष्ण यजुर्वेद' की तीन संहिताएँ हैं, तैत्तिरीय, मैत्रायणी और कठ, जिनमे गद्य और पद्य दोनो भाग हैं। 'शुक्ल यजुर्वेद' की दो संहिताएँ हैं, वाजसनेय और कण्व; जिनमें गद्य का अभाव है।

'यजुर्वेद' के निम्नलिखित गद्य-मन्त्र मे सौ वर्ष की आयु का कैसा उत्कृष्ट आदर्श है :

पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतं शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतम्। (३६।२४)

अर्थात् 'हम सौ वर्ष तक जीते रहे, हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ सौ वर्ष तक काम करती रहें हम सौ वर्ष तक ज्ञान-संचय करते रहें, हम सौ वर्ष तक अदीन सम्पन्न बने रहे।'

'यजुर्वेद' के एक मनोरम पद्य-मन्त्र का भी अवलोकन कीजिए, जिसमें शिव-संकल्प की अभिलाषा व्यक्त है :

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं
तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूरंगमंज्योतिषां ज्योतिरेकं
तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥ (३४।१)

अर्थात् जाग्रतावस्था में जो हमारे सभी इन्द्रिय-व्यापारों की उपेक्षा करके एक ही उड़ान में सारे चराचर को माप लिया करता है; सुप्तावस्था मे भी जो हमारी सर्वांगीण जड़ता के प्रतिकूल सारे ब्रह्माण्ड में अबाध विचरण किया करता है, जिसके वेग के सम्मुख सृष्टि के समस्त वेग पराजित हो जाते हैं, जो सब ज्योतियो की ज्योति है, सारे चैतन्यों का स्रोत है—ऐसा हमारा मन सदैव मांगलिक संकल्पो को धारण करे।

'सामवेद' में 'ऋग्वेद' के ही मन्त्र गेय-रूप में दिये गए हैं। 'सामन्' शब्द का अर्थ राग या संगीतात्मक ध्वनि है। जब 'ऋग्वेद' के मन्त्र सस्वर गाये जाते हैं तब वे 'सामवेद' कहलाते हैं। यज्ञों के अवसर पर वैदिक मन्त्र या तो ऋक्-रूप मे पढ़े जाते हैं या सामन् रूप मे गाये जाते हैं। साम-गान मे प्रत्येक अक्षर विशेष ध्वनि या आग्रह के साथ पढ़ा जाता है। साम-गान संगीतात्मक होने के कारण अधिक मधुर एव कर्ण-प्रिय होता है। 'भगवद्गीता' में तो भगवान् श्रीकृष्ण ने वेदों मे 'सामवेद' को ही अधिक प्रतिष्ठा दी है—'वेदानां सामवेदोऽस्मि।' 'वाल्मीकि-रामायण' में वर्णन आता है कि रावण ने सामवेद के स्तोत्रों से नर्मदा के तीर पर भगवान् शंकर की आराधना की थी :

तुष्टाव वृषभध्वजम् ।
सामभिर्विविधैः स्तोत्रैः प्रणम्य स दशानन ॥ (७।१८।३२)

'अथर्ववेद' भाषा की दृष्टि से 'ऋग्वेद' की अपेक्षा अर्वाचीन है। उसमें भी ऋग्वेद के कई मन्त्र उद्धृत है, किन्तु ऋग्वेद की भाँति 'अथर्व-वेद' देवताओं की चर्चा न करके लौकिक विषयो से ही अधिक सम्बन्धित है। उसमे मन्त्रों, औषधो, टोटकों और यंत्रो के प्रयोग द्वारा रोग-निवा-रण एवं सासारिक सुख-प्राप्ति के उपाय बतलाये गए है। खाँसी की शान्ति का एक मन्त्र देखिए—

यथा सूर्यस्य रश्मय परापतन्त्याशुमत् ।
एवा त्व कासे प्रपत समुद्रस्यानु विक्षरम् ॥ (६।११।२)

अर्थात् 'हे खाँसी, जैसे सूर्य की किरणें जल्दी-जल्दी निकलती जाती हैं, वैसे ही तू भी इस रोगी को छोड़कर तुरन्त समुद्र मे चली जा।'

शत्रुओ से अभय, सभा में विजय, दीर्घायु, पुत्र, प्रेम आदि की प्राप्ति के लिए आये मन्त्रो के अतिरिक्त 'अथर्ववेद' मे अध्यात्म और राष्ट्र-प्रेम-जैसे उदात्त विषयों पर भी कई सूक्त हैं। **'कृत मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः'** (७।५२।८)—'पुरुषार्थ मेरे दाहिने हाथ मे और जय बाएँ हाथ में है।' **'शतहस्त समाहर सहस्रहस्त संकिर'** (३।२४।५)—

'सैकड़ो हाथों से इकट्ठा करो और हजारो हाथो से बाँट दो'—जैसे उन्नत और गौरवशाली स्वरों का भी अभाव नहीं है।

ब्राह्मण और आरण्यक

'ब्राह्मण' और 'आरण्यक' वैदिक संहिताओं के ही परिशिष्ट रूप में जुड़े हुए हैं। 'ब्रह्म' शब्द का एक अर्थ यज्ञ है और यज्ञों से सम्बद्ध होने के कारण ये ग्रन्थ 'ब्राह्मण' कहलाये। कर्मकाण्ड की पवित्रता घोषित करना ही उनका मुख्य उद्देश्य है। उनमें यज्ञों के अनुष्ठान की विधियाँ तथा उनकी शास्त्रीय, पौराणिक, धार्मिक अथवा दार्शनिक व्याख्या दी गई है। 'ऋग्वेद' के दो 'ब्राह्मण' हैं—'ऐतरेय' और 'कौषीतकी', जिनमें क्रमशः ४० और ३० अध्याय है। 'सामवेद' के अनेक 'ब्राह्मणों' में 'ताण्ड्य' ब्राह्मण मुख्य है। पच्चीस अध्यायो मे विभक्त होने के कारण उसे 'पंचविंश' ब्राह्मण भी कहते हैं। कृष्ण और शुक्ल 'यजुर्वेद' से सम्बद्ध 'तैत्तिरीय' और 'शतपथ' ब्राह्मण हैं। 'शतपथ' ब्राह्मण 'ऋग्वेद' और 'अथर्ववेद' के बाद वैदिक साहित्य का सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। यज्ञो के विस्तृत वर्णन के साथ-साथ उसमें कई प्राचीन आख्यान तथा उस समय के सामाजिक और सांस्कृतिक तथ्य दिये गए हैं। **"असतो मा सद् गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्मामृतं गमय"** (१४।३।१।३०)—'हे प्रभुवर, मुझे असत्य से सत्य की ओर, अन्धकार से प्रकाश की ओर और मृत्यु से अमृत की ओर ले चलो!'—इसी ब्राह्मण की शाश्वत उक्ति है। 'अथर्ववेद' का ब्राह्मण 'गोपथ' के नाम से प्रसिद्ध है। ब्राह्मण-साहित्य के सभी ग्रन्थ अभी तक प्रकाश में नहीं आये हैं।

ब्राह्मणों की भाँति आरण्यक भी गद्य में लिखित हैं। **'अरण्य एव पाठ्यत्वादारण्यक मितीर्यते'**—अरण्य (वन) मे पढ़ाये जाने के कारण वे आरण्यक कहलाते हैं। ब्राह्मण गृहस्थो के लिए हैं तो आरण्यक वानप्रस्थों के लिए हैं। आरण्यकों में यज्ञानुष्ठान की विधि और कर्मकाण्ड की व्याख्या न होकर यज्ञों के आध्यात्मिक रूप का और उन्हें कराने

वाले ऋषियों के दार्शनिक सिद्धान्तों का विवेचन है। इन दिनों केवल सात आरण्यक उपलब्ध हैं, जिनमे सर्वाधिक प्रसिद्ध ऋग्वेदीय 'ऐतरेयारण्यक' है।

ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् ये तीनो प्रायः इतने सम्मिलित पाये जाते हैं कि उनके बीच की सीमा निर्धारित करना कठिन हो जाता है। साधारण क्रम यही जान पड़ता है कि वैदिक संहिताओं का उत्तर भाग ब्राह्मण है, ब्राह्मण का शेष आरण्यक और आरण्यक का शेषांश उपनिषद् हैं।

उपनिषद्

उपनिषद् अध्यात्म विद्या या ब्रह्म विद्या को कहते हैं। वेद का अन्तिम भाग होने के कारण वे वेदान्त भी कहलाते है। उन्हें स्वर-सहित पढ़ने का नियम नहीं है। यो तो उपलब्ध उपनिषदों की संख्या २०० से भी ऊपर है, पर उनमें से 'ईश', 'केन', 'कठ', 'प्रश्न', 'मुण्डक', 'माण्डूक्य', 'तैत्तिरीय', 'ऐतरेय', 'छान्दोग्य', 'बृहदारण्यक' और 'श्वेताश्वतर' ही प्रमुख हैं और इन्हे ही सब आचार्यों ने ब्रह्म विद्या के लिए प्रमाणभूत माना है। इनमें 'बृहदारण्यक', 'छान्दोग्य', 'तैत्तिरीय' और 'ऐतरेय' प्राचीनतर हैं और ब्राह्मणों की भाँति अपरिष्कृत गद्य मे रचित हैं। उन्हें ईसा से ६०० वर्ष पहले का माना जाता है, क्योंकि बौद्ध धर्म मे उनके कुछ मुख्य सिद्धान्तों को आधार-रूप मे मान लिया गया है। 'ईश', 'कठ', मुण्डक', और 'श्वेताश्वतर' पद्यमय हैं। 'केन' गद्य-पद्य-मय है। 'प्रश्न' और 'माण्डूक्य' का गद्य परिष्कृत है और लौकिक संस्कृत के अधिक निकट हैं।

उपनिषदों में इस लोक और परलोक की दार्शनिक जिज्ञासाएँ अभिव्यक्त हुई हैं। स्थूल जगत् से सूक्ष्म जगत् की ओर बढ़ाने की जो प्रवृत्ति संहिताओं और ब्राह्मणों में मूकप्राय थी, वह आरण्यकों मे अर्धस्फुट होती हुई उपनिषदों में पूरी तरह मुखरित हो उठी :

किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता
जीवाम केन क्व च सम्प्रतिष्ठाः ।
अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु
वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम् ॥[1]

अर्थात्, वेदों में समस्त जगत् का कारण जो ब्रह्म बताया गया है, वह कौन है ? हम सब लोग किससे उत्पन्न हुए हैं ? हमारा मूल क्या है ? किसके प्रभाव से हम जी रहे हैं ? हमारे जीवन का आधार कौन है, और हमारी पूर्णतया स्थिति किसमें है ? उत्पन्न होने से पहले, उत्पन्न होने के बाद और इसके पश्चात् प्रलय-काल में हम किसमें स्थित रहते हैं ? हमारा परम आश्रय कौन है तथा हमारा अधिष्ठाता, हमारी व्यवस्था करने वाला कौन है ? जिसकी रची हुई व्यवस्था के अनुसार हम लोग सुख-दुःख भोग रहे हैं, वह इस सम्पूर्ण जगत् की सुव्यवस्था करने वाला, इसका संचालक स्वामी कौन है ?

इन गुत्थियों को सुलझाते हुए उपनिषदों ने जगत् के मिथ्यात्व एवं जीवात्मा और परमात्मा की अभिन्नता का प्रतिपादन किया है। उनमें सच्चिदानन्द-रूप परमात्मा का सैद्धान्तिक विवेचन ही नहीं है, वरन् उन्हें प्राप्त करने के (विभिन्न रुचि के अधिकारियों के अनुकूल) विविध साधनों तथा मनुष्य को ऊँचा उठाने वाले सदाचार का भी वर्णन है। 'ईशावास्योपनिषद्' के निम्नलिखित दो मन्त्रों में उस निष्काम कर्म-योग का कैसा सार प्रस्तुत कर दिया गया है, जिसकी विस्तृत व्याख्या बाद में श्रीमद्भगवद्गीता' में हुई :

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥
कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजिविषेच्छतं समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥

'समस्त विश्व में जड़-चेतन-रूप जो कुछ भी देखने-सुनने में आ

१. 'श्वेताश्वतर उपनिषद्', १।१

रहा है, वह सब ईश्वर से व्याप्त है, परिपूर्ण है। उसीका निरन्तर स्मरण करते हुए संसार के भोगों का उपभोग करो! विषयों में मन को मत फँसने दो! वस्तुत. ये भोग्य पदार्थ किसी के भी नहीं हैं; वे क्षणिक और नाशवान् हैं। कर्त्तव्य-कर्मों का आचरण करते हुए सौ वर्ष जीने की इच्छा करो! कर्म करते हुए कर्मों मे लिप्त न होने का यही एक-मात्र मार्ग है।'

'कठोपनिषद्' में नचिकेता और यमराज के अनूठे संवाद द्वारा 'मरने के बाद आत्मा का अस्तित्व रहता है या नहीं' इस समस्या को हल किया गया है :

न जायते म्रियते वा विपश्चित् नाय कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।
अजो नित्य: शाश्वतोऽय पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ।।
(१।२।१८)

'यह ज्ञान-स्वरूप आत्मा न उत्पन्न होता और न मरता ही है, यह न तो स्वयं किसी से हुआ है और न इससे और कोई हुआ है। यह अजन्मा, नित्य, शाश्वत और पुरातन है, क्षय और वृद्धि से रहित है। शरीर के नष्ट किये जाने पर भी इसका नाश नहीं किया जा सकता।'

आत्म-तत्त्व का सुगमता से बोध कराने के लिए उपनिषदों में आख्यायिका, दृष्टान्त, उदाहरण, रूपक, संकेत तथा विधि-निषेधात्मक वाक्यों का उपयोग किया गया है। 'जिस प्रकार बहती हुई नदियाँ नाम-रूप को छोड़कर समुद्र मे विलीन हो जाती हैं, उसी प्रकार ज्ञानी-महात्मा नाम-रूप से रहित होकर परमात्मा को प्राप्त हो जाता है', 'जैसे प्रदीप्त अग्नि से (अग्नि-स्वरूप) विस्फुलिंग चारो ओर निकलते हैं, वैसे ही अक्षर-ब्रह्म से विविध जीव उत्पन्न होते और पुनः उसीमें विलीन हो जाते हैं', 'जैसे तिल को पेरने से तेल, दही को मथने से मक्खन, नहर खोदने से पानी और अरणि काष्ठ के संघर्षण से आग पाई जाती है, वैसे ही सत्य और तपस्या द्वारा खोज करने पर अपनी आत्मा मे ही परमात्मा को पाया जाता है।'

उपनिषदों में साहित्यिक और दार्शनिक प्रतियोगिताओं के अनेक

उदाहरण मिलते हैं, जिनमें ब्राह्मणों और क्षत्रियों के अतिरिक्त स्त्रियाँ और संदिग्ध वर्ण के लोग भी भाग लेते थे और ज्ञान की पराकाष्ठा तक पहुँचते थे। उदाहरणार्थ, 'बृहदारण्यकोपनिषद्' में जब गार्गी जगत् के मूल कारण के विषय में याज्ञवल्क्य पर प्रश्नों की झड़ी लगा देती है, तब याज्ञवल्क्य को कहना पड़ता है—"गार्गी, बहुत प्रश्न मत करो, प्रश्न की सीमा को मत लाँघो; कहीं ऐसा न हो कि तुम्हारा सिर फट जाय! सच-मुच परमात्म-तत्त्व के विषय में किसी को बहुत प्रश्न नहीं करने चाहिएँ।"

जबाला के पुत्र सत्यकाम की कथा उपनिषत्कारों के औदार्य की सूचक है। उसने अपनी माँ से पूछा—"मैं एक ब्राह्मण आचार्य के यहाँ ब्रह्मचारी होकर विद्याध्ययन करना चाहता हूँ, परन्तु वह निम्न जाति के शिष्यों को ग्रहण नहीं करते। माँ, मैं किस गोत्र का हूँ?" माता ने उत्तर दिया—"वत्स, मुझे तो गोत्र का पता नहीं। युवावस्था में जब मैं परिचारिका-वृत्ति का अवलम्बन करके इधर-उधर रहा करती थी, तभी तुम मेरे गर्भ में आ गए थे। अपने गुरु से कहो कि मैं सत्यकाम जाबाल (जबाला का पुत्र) हूँ।" आचार्य गौतम हारिद्रुमत अपने भावी शिष्य की इस स्पष्टवादिता से प्रसन्न होकर बोले—"एक सच्चे ब्राह्मण के सिवा कोई दूसरा इस प्रकार नहीं कह सकता। सौम्य, जाओ, समिधा ले आओ! मैं तुम्हें दीक्षा दूँगा। तुम सत्य से विचलित नहीं हुए हो।"

उपनिषदों के सिद्धान्तों में जो नया विकास हुआ, उसका साराश गौड़पादाचार्य ने अपनी 'कारिका' के चारों प्रकरणों में प्रस्तुत कर दिया है। उपनिषदों के अर्थ का निर्णय करने के लिए महर्षि बादरायण व्यास ने 'ब्रह्मसूत्र' की रचना की, और शंकराचार्य ने भाष्य लिखे। उपनिषदों के ही सारभूत अर्थ का उपदेश भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को 'गीता' में दिया है।

पाश्चात्य विद्वानों पर उपनिषदों का बहुत प्रभाव पड़ा है। मुग़ल-सम्राट् शाहजहाँ का ज्येष्ठ पुत्र दाराशिकोह उपनिषदों की कीर्ति सुनकर इतना प्रभावित हुआ था कि उसने कई उपनिषदों का फ़ारसी में अनु-

वाद कर डाला। इस फ़ारसी अनुवाद से यूरोपीय भाषाओं मे उपनिषदो के अनुवाद हुए। विदेशी विद्वानो मे से उपनिषदो की सबसे अधिक प्रशंसा जर्मनी के प्रसिद्ध दार्शनिक शोपेनहार ने की है। वे कहते हैं: 'सम्पूर्ण विश्व मे उपनिषदो के समान जीवन को ऊँचा उठाने वाला कोई दूसरा अध्ययन का विषय नहीं है। इनसे मेरे जीवन को शान्ति मिली है; उन्हींसे मुझे मृत्यु में भी शान्ति मिलेगी।"

वेदांग

वेदांग-साहित्य का प्रणयन वेदो के अर्थ और विषय को समझाने के लिए किया गया। इस साहित्य में एक ऐसी सूत्रात्मक शैली का प्रयोग हुआ है, जिसमे अल्प शब्दो से ही विपुल अर्थ प्रकट हो जाता है। वेदांग के अन्तर्गत शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष ये छः प्रकार की कृतियाँ गिनी जाती है।

शिक्षा-ग्रन्थों में वेदों के स्वर और उच्चारण के नियम दिये गए है। प्रत्येक वेद की शिक्षा-पुस्तके अलग-अलग है, जैसे शुक्ल-यजुर्वेद की 'याज्ञवल्क्य शिक्षा', सामवेद की 'नारद-शिक्षा' और अथर्ववेद की 'माण्डूकी-शिक्षा'। 'पाणिनीय-शिक्षा' का 'ऋग्वेद' के लिए प्रयोग किया जा सकता है।

यज्ञो का विस्तार हो जाने पर कण्ठस्थ करने मे सुगम ऐसे छोटे-छोटे ग्रन्थों की आवश्यकता अनुभव हुई, जिनमें पौरोहित्य-कर्म में संलग्न ब्राह्मणों की सुविधा के लिए संक्षिप्त विधियाँ या नियम दिये हो। ऐसे ग्रन्थ कल्प-सूत्र कहलाते हैं। कल्प-सूत्र तीन प्रकार के हैं—श्रौत-सूत्र, गृह्य सूत्र और धर्म सूत्र। श्रौत सूत्रों मे वैदिक यज्ञ-पद्धति का यथाविधि वर्णन पाया जाता है। गृह्य सूत्रों में उन अनुष्ठानो का शास्त्रीय विवेचन है, जो गृहस्थ के जन्म से लेकर उसकी मृत्यु तक किये जाते हैं। इनमे उप-नयन, विवाह आदि षोडश संस्कार अधिक विस्तार से वर्णित हैं, जो आज भी हिन्दुओं के जीवन मे मान्य हैं। तत्कालीन कौटुम्बिक आचार-विचार

तथा नृवंश-विषयक शोध के लिए 'गृह्य सूत्र' नितान्त उपयोगी हैं। धर्म-सूत्रों में चारों वर्णों और चारों आश्रमों के कर्त्तव्य-कर्मों की चर्चा के साथ-साथ उत्तराधिकार-जैसे विषयों को भी स्पर्श किया गया है। इस प्रकार वे भारत के सबसे प्राचीन विधि (कानून)-ग्रन्थ हैं, जिनके आधार पर परवर्ती धर्मशास्त्रों और स्मृतियों की रचना हुई।

वैदिक व्याकरण का कोई सम्पूर्ण ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता। पाणिनि ने गार्ग्य, भरद्वाज, स्फोटायन, शाकटायन आदि वैयाकरणों का नामोल्लेख किया है, किन्तु उनके बनाये व्याकरण अब नहीं मिलते। हाँ, प्रातिशाख्य नामक ग्रन्थों में स्वर, छन्द, सन्धि, विभिन्न पाठ आदि के प्रतिपादन के साथ वैदिक व्याकरण का भी विवेचन मिलता है, यद्यपि वह सांगोपांग नहीं है। इन दिनों केवल छः प्रामाणिक प्रातिशाख्य उपलब्ध हैं।

वेदों के कठिन शब्दों की तालिका 'निघण्टु' नामक ग्रन्थ में दी गई है, जिस पर यास्क ने अपना विस्तृत भाष्य 'निरुक्त' लिखा। 'निरुक्त' में वैदिक शब्दों की व्युत्पत्ति दिखलाकर वेदार्थ का स्पष्टीकरण किया गया है। इस प्रकार 'निरुक्त' वैदिक व्याकरण का एक पूरक ग्रन्थ है।

छन्दों का ज्ञान भी वेद-मन्त्रों के शुद्ध उच्चारण के लिए आवश्यक है। एतदर्थ छन्दःशास्त्र का आविर्भाव हुआ। शौनक के 'ऋक्-प्रातिशाख्य' के अन्त में छन्दों का पर्याप्त विवेचन है। इस विषय की सबसे उपयोगी रचना पिंगल नामक आचार्य का 'पिंगल' ग्रन्थ है, जिसमें वैदिक छन्दों के अतिरिक्त लौकिक छन्दों का भी वर्णन मिलता है।

वैदिक यज्ञों के काल-निर्णय के लिए वेदांग ज्योतिष का निर्माण किया गया, जिसके प्रधान आचार्य लगध हैं। उसके ऋग्वेदीय और यजुर्वेदीय दो संस्करण पाये जाते हैं। कल्पसूत्रों में से 'शुल्वसूत्र' भी ज्योतिष से सम्बद्ध है। 'शुल्व' का अर्थ है नापने का डोरा। इन सूत्रों में यज्ञ-वेदी बनाना, उसके स्थान को चुनना आदि बातें बताई गई हैं। भारतीय ज्यामिति या रेखा गणित का उद्भव भी इन्हीं शुल्वसूत्रों से हुआ है।

: ३ :

इतिहास-पुराण

प्राचीन भारत के इतिहास की दृष्टि से संस्कृत-साहित्य में 'रामायण', 'महाभारत' और 'पुराणों' का महत्त्वपूर्ण स्थान है। आधुनिक इतिहास-ग्रन्थों की भाँति वे घटनावलियों और तिथियों का क्रमबद्ध इतिहास भले ही उपस्थित न करते हों; फिर भी भारत के सांस्कृतिक इतिहास के अनुशीलन के लिए वे बहुमूल्य हैं। हमारे प्राचीन राष्ट्रीय जीवन के राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, दार्शनिक और व्यावहारिक सभी अंगों पर उनसे पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

रामायण

जहाँ तक कथानक या घटना-चक्र का प्रश्न है, 'रामायण' निस्सन्देह 'महाभारत' की अपेक्षा पहले की कृति है। पुराण-विशेषज्ञ पार्जिटर महोदय के अनुसार राम-रावण-युद्ध १६०० ई० पू० में हुआ था, जबकि कौरव-पाण्डव-युद्ध ११०० ई० पू० में हुआ। किन्तु भाषा और शैली की दृष्टि से 'रामायण' की अपेक्षा 'महाभारत' अधिक प्राचीन जान पड़ता है। 'रामायण' की काव्य-शैली अपने युग की साहित्यिक प्रगति

के अनुरूप पर्याप्त पुष्ट एवं अलंकृत है। इसके विपरीत 'महाभारत' में भाषा और शैली की प्राचीनता तथा अस्त-व्यस्तता दृष्टिगोचर होती है, जो एक पूर्ववर्ती युग की सूचक है।

इस प्रकार 'रामायण' में 'महाभारत' की अपेक्षा कुछ पूर्वतन घटना-चक्र को अपेक्षाकृत परवर्ती भाषा और शैली में चित्रित किया गया है। फिर भी उसकी रचना बौद्ध-युग से पूर्व हो चुकी थी। उसके प्रणेता महर्षि वाल्मीकि भारतीय परम्परा और 'रामायण' के अंतरंग प्रमाणों के आधार पर भगवान् राम के समकालीन थे; किन्तु आधुनिक अन्वेषकों के अनुसार 'रामायण' की रचना और उसके कथानक दोनों के बीच शताब्दियों का अन्तर था। इस बीच राम-कथा-सम्बन्धी अनेक आख्यान लोक में प्रचलित थे, जो आज अप्राप्य हैं; और इन्हींके आधार पर वाल्मीकि ने अपनी 'रामायण' की रचना की।

'रामायण' की उपलब्ध प्रतियों में लगभग २४,००० श्लोक तथा सात काण्ड पाए जाते हैं; किन्तु इन सबमें 'रामायण' का पाठ एक-सा नहीं है। पाठ-भेद की दृष्टि से भारत में 'रामायण' के मुख्यतः तीन संस्करण प्रचलित हैं—देवनागरी (बम्बई), बंगीय (कलकत्ता) और कश्मीरी या पश्चिमोत्तरीय संस्करण।[1] इन संस्करणों में कथानक की दृष्टि से विशेष अन्तर नहीं है, पर श्लोकों के पाठ और क्रम में भेद है, जिसका कारण यह प्रतीत होता है कि 'रामायण' आरम्भ में लिखित रूप में नहीं थी। पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि बालकाण्ड और उत्तर-काण्ड मूल ग्रन्थ में नहीं थे, वे बाद में जोड़ दिये गए हैं। शेष पाँच काण्डों में भी कहीं-कहीं प्रक्षिप्त स्थल हैं। इनकी सृष्टि कुशीलवों (गायकों) द्वारा हुई, जिन्होंने स्थल-स्थल पर हृदय-स्पर्शी वर्णनों का विस्तार कर

१. पश्चिमोत्तरीय संस्करण लाहौर से प्रकाशित हुआ था।

ओरिएंटल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा के तत्त्वावधान में तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर 'वाल्मीकि-रामायण' का एक प्रामाणिक एवं समीक्षित संस्करण तैयार हो रहा है।

दिया । आधुनिक विद्वान् मौलिक 'रामायण' (वाल्मीकि की मूल प्रक्षेप-रहित कृति) का समय प्रायः ८००-६०० ई० पू० मानते हैं और इनके अनुसार सम्पूर्ण 'रामायण' अपने वर्तमान रूप को द्वितीय शताब्दी ईसवी तक प्राप्त कर चुकी थी।

इन पाठ-भेदों और तथाकथित प्रक्षेपों से 'रामायण' के रसास्वादन में कोई बाधा नहीं पड़ती और पाठक उसकी सहज स्वाभाविकता, भाव-प्रवणता एवं सौन्दर्य-चेतना से मन्त्र-मुग्ध हो उठता है। विषय की उत्कृष्टता, घटनाओं का वैचित्र्यपूर्ण विन्यास, भाषा का सौष्ठव, प्रकृति का अत्यन्त सजीव रूप में उपस्थापन, पात्रों का मर्यादित विकास, मानवीय मनोभावों का उदात्तीकरण आदि जिस दृष्टि से भी देखें 'रामायण' एक निपुण कवि-कलाकार की मनोहर रचना है। रस, गुण, अलंकार तथा ध्वनि के सभी भेद-प्रभेदों के उदाहरण 'रामायण' में प्रचुर मात्रा में मिल जाते हैं। महाकाव्य का सर्वप्रथम निदर्शन 'वाल्मीकीय रामायण' ही है। इसीका विश्लेषण करके आलंकारिकों ने महाकाव्य के लक्षण प्रस्तुत किये हैं। लौकिक संस्कृत में श्लोक-रचना का सर्वप्रथम श्रेय वाल्मीकि को ही प्राप्त है। काव्य और नैतिकता का ऐसा मनोमोहक समन्वय अन्यत्र नहीं पाया जाता।

'रामायण' के एक सुप्रसिद्ध अनुष्टुप् का अवलोकन कीजिए :

सागरं चाम्बरप्रख्यमम्बरं सागरोपमम्।
रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव ॥६।१०७।५२

अर्थात् 'जिस प्रकार आकाश की उपमा आकाश से ही दी जा सकती है और समुद्र की तुलना समुद्र से ही की जा सकती है, उसी प्रकार राम-रावण के उस युद्ध की समता राम-रावण-युद्ध से ही की जा सकती थी।' सीता की रावण के प्रति कैसी तिरस्कार-भरी उक्ति है :

त्वं पुनर्जम्बूकः सिंहीं मामिहेच्छसि दुर्लभाम्।
नाहं शक्या त्वया स्प्रष्टुमादित्यस्य प्रभा यथा ॥३।४७।३७

'अभागे, तू सियार है और मैं सिंहनी हूँ। मैं तेरे लिए सर्वथा दुर्लभ हूँ। क्या तू मुझे पाने का हौसला रखता है? जैसे सूर्य की प्रभा पर कोई हाथ नहीं लगा सकता, वैसे ही तू मुझे छू भी नहीं सकता।'

एक संगीतमय मनोरम प्राकृतिक वर्णन देखिए :

मही कृता पर्वतराजिपूर्णा: शैला: कृता वृक्षवितानपूर्णा ।

वृक्षा: कृताः पुष्पवितानपूर्णाः पुष्पं कृत केसरपत्रपूर्णम् ॥४।७९

अर्थात् 'पृथ्वी पर्वतमालाओं से परिपूर्ण है, पर्वत विस्तीर्ण वृक्षों से भरे हैं, वृक्ष पुष्पों के समूहों से पूर्ण है तो पुष्प केसर के गुच्छों से लदे हैं।'

वाल्मीकि ने जिन आदर्शों की सृष्टि अपने काव्य में की है, वे आज तक हमारे प्राणों को आन्दोलित कर रहे हैं। "उसके केन्द्र-स्थल में एक तेजोदृप्त गृहस्थ है, जो विपत्तियों से म्लान नहीं हो जाता, सम्पत्ति से उकता नहीं जाता, शत्रु की गर्वोक्तियों से उत्तेजित नहीं हो जाता और परिस्थिति की विषमताओं से विचलित नहीं हो उठता—शान्त, सौम्य, गम्भीर और अविकत्थन।...'रामायण' का वीरत्व आदर्श मनुष्यता का उन्नायक है, उसमें अनैतिक वीरता को नीतिसंगत और सदाचार-परायण वीरता से दबाया गया है। अनीति का दमन, नीति का उन्नयन, पशुता का विरोध और मानवता का प्रवर्धन—यही 'रामायण' का आदर्श है। यह आदर्श कृत्रिम और बाहर से आरोपित नहीं है, बल्कि जीवन के कठोर संघर्षों के भीतर से प्रस्फुटित अतएव सहज और गम्भीर है।"

यद्यपि 'रामायण' मुख्यतः एक काव्य है, तथापि इतिहास की दृष्टि से उसका महत्त्व कम नहीं। उसमें राम-राज्य की ऐतिहासिक घटनाओं का काव्यमय वर्णन उपस्थित किया गया है। साथ-ही-साथ नैतिक आदर्शों का प्रतिपादन करना भी कवि को इष्ट था और इस कारण राम जहाँ धर्म के प्रतीक बन गए वहाँ रावण अधर्म का। किन्तु सारी कथा में रूपक अथवा प्रतीक-मात्र देखने का कोई समीचीन कारण नहीं। भारतीय

परम्परा तथा समग्र संस्कृत-साहित्य मे राम को एक ऐतिहासिक पुरुष के रूप में ही स्वीकार किया गया है। वास्तव में 'रामायण' हमारा राष्ट्रीय आदि-काव्य है, जिसकी रचना के प्रसंग से कवि ने समस्त भारत मे आर्य-आदर्श के प्रसार का मार्मिक एवं कवित्वपूर्ण इतिहास प्रस्तुत किया है। धार्मिक एवं नैतिक आदर्शों का भण्डार होते हुए भी 'रामायण' एक महत्त्वपूर्ण मानवीय समाज-शास्त्र भी है, जो प्राचीन भारतीय आर्यों की संस्कृति का—उनके जीवन-यापन का—सजीव वर्णन उपस्थित करता है। उसकी उपमा एक ऐसे पर्वत-शिखर से दी जा सकती है जिसकी चोटी से हम आर्यों की प्राचीन सामाजिक, राजनीतिक एवं धार्मिक व्यवस्था का दिग्दर्शन कर सकते हैं।

भारतीय साहित्य के आधे से अधिक भाग को 'वाल्मीकि-रामायण' ने प्रेरित किया है। संस्कृत-साहित्य तो 'रामायण' का चिर-ऋणी है। मुरारि के शब्दो मे 'समस्त कवि-रूपी व्यापारियो के लिए वाल्मीकि ने एक सामूहिक पूँजी प्रस्तुत कर दी है'—**'अहो सकलकविसार्थसाधारणी खल्विदं वाल्मीकीया सुभाषितनीवी।'** आधुनिक भारतीय भाषाओं के साहित्य में भी राम-कथा की अद्वितीय व्यापकता दिखाई पड़ती है। साहित्य के अतिरिक्त भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के सभी क्षेत्रों में 'रामायण' का अभूतपूर्व प्रभाव पड़ा है। पश्चिम की सभी प्रमुख भाषाओं मे उसका रूपान्तर हो चुका है। बृहत्तर भारत के देशों की कला और संस्कृति तथा वहाँ के साहित्य पर भी 'वाल्मीकीय रामायण' का प्रभाव आज तक स्पष्ट झलकता है।

महाभारत

यदि 'रामायण' मुख्यतः काव्य है तो 'महाभारत' मुख्यतः इतिहास है, यद्यपि इसमे भी कवि-बुद्धि को प्रेरणा देने वाले तत्त्व प्रचुर मात्रा में विद्यमान हैं की मूल कथा कौरव -युद्ध है जिसका

जो 'भारत' नाम से प्रसिद्ध थी यही 'भारत संहिता' अनेक उपाख्यानों के मिल जाने से, नीति और धर्म के अनेक प्रकरणों के समाविष्ट हो जाने से, तथा भूगोल, इतिहास और दर्शन की विपुल सामग्री के एकत्र समवाय से पुष्पित, पल्लवित और प्रतिमण्डित होकर लक्ष श्लोकात्मक 'महाभारत' की शत-साहस्री संहिता बन गई। यह परिष्कार व्यास, वैशम्पायन अथवा अकेले उग्रश्रवा सूत का ही नहीं था प्रत्युत डॉ० विष्णु सीताराम सुकथनकर के मतानुसार 'महाभारत' का एक महत्त्वपूर्ण संस्करण भृगु-वंश के ऋषि-मुनियों के प्रबल और साक्षात् प्रभाव के अन्तर्गत भी किया गया, जिसमें कई शताब्दियों का समय लगा होगा।[1]

पाणिनि ने युधिष्ठिर, भीम, विदुर तथा महाभारत—इन शब्दों की व्युत्पत्ति समझाई है। इससे प्रतीत होता है कि 'महाभारत' का मूल ऐतिहासिक कथानक छठी-सातवीं शती ई० पू० में रचित हो चुका था। यूरोपीय विद्वानों के अनुसार 'महाभारत' का वर्तमान परिवर्धित रूप ईसा की चौथी शताब्दी तक निर्धारित हो गया था।

एक व्यक्ति की रचना न होने पर भी 'महाभारत' एक सम्पूर्ण युग की रचना है, जिसमें उसके समस्त गुण-दोषों का अत्यन्त मार्मिक रूप से उद्घाटन हुआ है। संसार के साहित्य में शायद ही कोई दूसरा ऐसा ग्रन्थ हो जो 'महाभारत' की तुलना में रखा जा सके। 'यह कविरूपी माली का यत्नपूर्वक सँवारा हुआ ऐसा उद्यान नहीं है जिसके लता-वृक्ष-पुष्प अपने सौन्दर्य के लिए बाहरी सहायता की अपेक्षा रखते हैं, बल्कि यह स्वाभाविक जीवनी शक्ति से परिपूर्ण वनस्पतियों और लताओं का अयत्नपरिवर्धित विशाल वन है, जो अपनी उपमा आप ही है।' अनेक युगों से सञ्चित भारतीय ज्ञान का यह भण्डार है, यह हमारा ऐसा सांस्कृतिक विश्व-कोष है, जिसमें भारतीय राजनीति, समाज-शास्त्र,

१. महाभारत का तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर एक प्रामाणिक समीक्षित संस्करण भंडारकर प्राच्य विद्या संस्थान, पूना से सम्पादित हुआ है।

मानव-जीवन, धर्म और दर्शन का सुनहला ताना-बाना बुना गया है। हिन्दू-धर्म की बहुमूल्य मणि 'श्रीमद्भगवद्गीता', 'महाभारत' के ही अन्तर्गत समाविष्ट है। जिस प्रकार समुद्र और हिमालय दोनों रत्नों की खान हैं, उसी प्रकार यह 'महाभारत' है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के विषय में जो कुछ इसमें कहा गया है, वही अन्यत्र है; जो इसमें नहीं है, वह कहीं नहीं है :

धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित् ॥

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में "महाभारत उज्ज्वल चरित्रों का विशाल वन है। इस ग्रन्थ में ऐसे पात्र बहुत कम हैं—नहीं हैं, कहना अधिक ठीक है—जो महलों में पलकर चमके हों। सब-के-सब एक तूफान के भीतर से गुज़रे हैं। उनका विकास कवि की सुनियन्त्रित योजना के इशारे पर नहीं हुआ है, बल्कि अपने-आपकी भीतरी शक्ति के द्वारा हुआ है; जैसे महावन का विशाल वनस्पति हो, जो तूफानों और शिला-वृष्टियों की चोट सहकर और पार्श्ववर्ती वनराजि की भयंकर प्रतिद्वन्द्विता को पछाड़कर आकाश में सिर उठाता है। इन पात्रों ने अपना रास्ता स्वयं निकाला है, अपनी ही रची हुई विपत्ति की चिता में ये हँसते-हँसते कूद गए हैं। 'महाभारत' का अदना-से-अदना चरित्र भी डरना नहीं जानता; आत्म-विश्वास की ऐसी उच्छल धारा सर्वत्र नहीं मिल सकती। सबके चेहरे पर अकुतोभय भाव है, अविश्वास की छाया कहीं नहीं पड़ी, भीति की शिकन से कोई विकृत नहीं हुआ—निर्भीक, साहसी, तेजस्वी। 'महाभारत' पढ़ते समय पाठक एक जादू-भरे वीरत्व के अरण्य में प्रवेश करता है, जहाँ विपत्ति तो है पर भय नहीं है, असफलता तो है पर निराशा नहीं है, जीवन की गलतियाँ तो हैं पर उनके लिए अनुताप नहीं है। सरल तेज, अकृत्रिम दर्प, निर्भीक वीरत्व, विवेकयुक्त कर्तव्य और अकपट आचरण महाभारतीय वीरों के चरित्र के मूल स्वर हैं।"

बदरी-वन मे तप करने वाले सदा उत्थानशील महामुनि वेदव्यास ने भारतवासियों के लिए पाणिवाद (पुरुषार्थवाद) का जो तेजस्वी सन्देश दिया, उसकी झाँकी देखिए :

अहो सिद्धार्थता तेषां येषां सन्तीह पाणयः ।
अतीव स्पृहे तेषां येषां सन्तीह पाणय ॥
पाणिमद्भ्य स्पृहास्माकं यथा तव धनस्य वै ।
न पाणिलाभादधिको लाभः कश्चन विद्यते ॥[1]

'जिनके पास देव के दिये हुए दस उँगलियों वाले हाथ है, उन्हे और क्या चाहिए ? निश्चय ही उनके लक्ष्य की सिद्धि होगी। जिनके पास हाथ हैं, उन्हींके लिए मेरे मन में सच्ची सराहना है। तुम भले ही धन की ओर ताका करो, मैं तो इन हाथों की ओर देखता हूँ। पाणि-लाभ से बढ़कर भी कोई दूसरा लाभ है इस विश्व मे ?'

साहित्यिक दृष्टि से 'महाभारत' मे किसी अतीत काल की संस्कृत भाषा का अत्यन्त समृद्ध रूप पाया जाता है; भाषा की ऐसी विलक्षण शक्ति अन्यत्र दुर्लभ है। उपाख्यान-शैली, छोटी-छोटी कहानियो की गल्प-शैली, प्रश्नोत्तर-शैली, केवल प्रश्नात्मक-शैली, नीति-कथन-शैली, स्तोत्र-शैली इत्यादि अनेक प्रकार की साहित्यिक शैलियों का अक्षय भण्डार 'महाभारत' मे है।

यदि समूचे भारतीय साहित्य का विश्लेषण किया जाय तो प्रमाणित होगा कि अधिकाश—शायद ६० प्रतिशत—रचनाएँ 'रामायण' और 'महाभारत' के आधार पर हुई हैं और आज भी हो रही हैं। रवीन्द्रनाथ टाकुर ने ठीक ही कहा है—**"शताब्दियों-पर-शताब्दियाँ बीतती चली जाती है, किन्तु 'रामायण' और 'महाभारत' का स्रोत भारत में नाम को भी शुष्क नहीं होता। प्रतिदिन गाँव-गाँव, घर-घर उनका पाठ होता रहता है। क्या बाजार की दूकानो पर और क्या राजद्वारो पर, सर्वत्र उनका समान भाव से आदर होता है। ये दोनों महाकवि धन्य है, जिनके नाम तो काल के**

---

१. शान्ति-पर्व १८०।११-१२।

महाप्रान्तर में लुप्त हो गए है, पर जिनकी वाणी आज भी करोड़ों नर-नारियों के द्वार-द्वार पर अपनी निरन्तर प्रवहमान धाराओं से शक्ति और शान्ति पहुँचाती फिरती है और सैकड़ों प्राचीन शताब्दियों की उपजाऊ मिट्टी को प्रतिदिन बहाकर भारत की चित्त-भूमि को उर्वरा बनाये हुए है।"

पुराण

'महाभारत' ने जिस इतिहास-परम्परा को प्रवाहित किया उसीके अन्तर्गत बृहद् पुराण-साहित्य की रचना हुई, यद्यपि यह 'महाभारत' की ऊँचाई तक नहीं पहुँच सका है। डॉ० कृष्णमाचार्य के अनुसार पुराण सङ्क्षिप्त रूप मे ईसा से तीन शताब्दी पूर्व बने थे, परन्तु उनमें बहुत-सी बातें बाद में जुड़ती रहीं। प्रो० विलसन के मतानुसार पुराण छठी शताब्दी ईसवी के बाद बने। यह असम्भव नहीं कि पुराणों की रचना परवर्ती-काल मे होने पर भी उनमे बहुत प्राचीन परम्पराएँ संकलित हों। पुराण १८ हैं—'मत्स्य', 'मार्कण्डेय', 'भविष्य', 'भागवत', 'ब्रह्माण्ड', 'ब्रह्मवैवर्त', 'ब्राह्म', 'वामन', 'वराह', 'विष्णु', 'अग्नि', 'नारद', 'पद्म', 'लिंग', 'गरुड़', 'कूर्म' तथा 'स्कन्द'। इसी प्रकार १८ उपपुराण भी हैं, जिनकी रचना डॉ० हाजरा के अनुसार ६५०-८०० ई० के बीच हुई।

पुराणो मे साहस, वीरता, उदारता, धर्मपरायणता, भक्ति, वैराग्य, मर्यादा-पालन-जैसी उदात्त मनोवृत्तियों का प्रसार करने के लिए घटनाएँ और दृष्टान्त दिये गए हैं। इसके अतिरिक्त पुराणो में सृष्टि, प्रलय, वंश-परम्परा, मन्वन्तर और विशेष वंशों में होने वाले महापुरुषों के चरित की भी चर्चा है :

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।

वंशानुचरित चव पुराण प ॥

गया है, वही ज्ञान इतिहास ('रामायण-महाभारत') और पुराणों में कथा, उपाख्यान, दृष्टान्त और उदाहरण देकर विशद रूप से समझाया गया है—'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् ।'

पुराणों की विषय-प्रतिपादन की प्रणाली बड़ी सरस एवं सुबोध है। सरल भाषा, प्रासादिकशैली, बोधगम्य विवेचन-पद्धति, रोचक आख्यान और वैचित्र्यपूर्ण घटनाएँ—ये सब उन्हें सामान्य पाठक के लिए अत्यन्त हृदयग्राही बना देते है।

प्राचीन भारत के सांस्कृतिक इतिहास के पुनर्निर्माण के लिए पुराणों का बड़ा महत्त्व है, क्योंकि उनमें हमारे राष्ट्रीय जीवन के सभी अंगों की चर्चा पाई जाती है। भारतीय राजनीति और शासन-प्रणाली का वर्णन अनेक पुराणों में, विशेषतः 'मत्स्य-पुराण' में, किया गया है। युद्ध-सम्बन्धी विषय 'अग्नि पुराण' मे वर्णित हैं। लोगों के रहन-सहन, आचार-विचार, रीति-रिवाज तथा सभ्यता-संस्कृति के बारे मे पुराणों में रोचक सामग्री भरी पड़ी है। प्राचीन धर्म-सूत्रों और धर्म-शास्त्रों के सिद्धान्त पुराणों मे उदाहरण-सहित स्पष्ट किये गए हैं। ललित कलाओं के सम्बन्ध में भी पुराणों में यत्र-तत्र सामग्री मिलती है। 'वायु' तथा 'ब्रह्माण्ड' पुराणों में भारतीय संगीत-शास्त्र का विवेचन हुआ है। 'ब्रह्माण्ड' तथा 'मत्स्य' पुराणों मे गृह-निर्माण-कला का वर्णन हुआ है।

पुराण हिन्दू-धर्म के बहुविध स्वरूप को उपस्थित करते हैं। मूर्ति-पूजा, द्वैतवाद, अद्वैतवाद, व्रत-उत्सव तथा जनता की धार्मिक एव नैतिक मनोवृत्ति-जैसे विषयों के परिज्ञान के लिए पुराणों मे प्रचुर सामग्री है। किन्तु यह कहना समीचीन नहीं कि 'पुराण' सम्प्रदायवाद को जन्म देकर शैवों, वैष्णवों और शाक्तों में पारस्परिक मनोमालिन्य उत्पन्न करते हैं। वस्तुतः पुराण किसी देवता-विशेष से सम्बन्धित होने पर भी अन्य देवताओं के प्रति दुर्भावना कदापि उत्पन्न नहीं करते। तथाकथित शैव और वैष्णव पुराणों में अन्य देवताओं की लीलाओं की भी चर्चा की गई है। किसी देवता-विशेष को सर्वोपरि घोषित करने का वास्तविक उद्देश्य

हृदय में उसके प्रति भक्ति का स्रोत उभार देना है, अन्य देवताओं को हीन सिद्ध करना नहीं। 'वामन-पुराण' का निम्नलिखित श्लोक इसी भावना को व्यक्त करता है :

> भवजलधिगतानां द्वन्द्ववाताहतानां
> सुतदुहितृकलत्रत्राणभारार्दितानाम्।
> विषमविषयतोये मज्जतामप्लवानां
> भवति शरणमेको विष्णुपोतो नराणाम्॥९४।२९

'जो मनुष्य संसार-रूपी समुद्र मे पड़कर सुख-दुःख, हर्ष-शोक, गरमी-सरदी आदि पवनों के झकोरों से पीड़ित रहते हैं, लड़के-लड़की, पत्नी आदि की रक्षा के बोझ से दबे रहकर तथा तैरने का कोई साधन न पाकर विषय-रूपी अगाध जल मे डूबते-उतराते हैं, ऐसे लोगों की भगवान् विष्णु ही नौका बनकर रक्षा करते हैं।'

'पद्मपुराण' में स्पष्ट लिखा है कि ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर एक ही शक्ति के तीन रूप होने के कारण सर्वथा अभिन्न हैं, उपाधि-भेद के अतिरिक्त उनमें कोई पार्थक्य नहीं।[1] पुराणों की समस्त कथाओं एवं उनके उपदेशों का सार यही है कि हमें आसक्ति का त्याग करके वैराग्य की ओर प्रवृत्त होना चाहिए तथा सांसारिक बन्धनों से मुक्त होने के लिए एक-मात्र परमात्मा की शरण में जाना चाहिए। यह लक्ष्य-प्राप्ति योग, कर्म अथवा भक्ति के द्वारा किस प्रकार हो सकती है, इसकी विशद व्याख्या अनेक पुराणों में हुई है। भगवान् के दर्शन के लिए व्याकुल भक्त का एक मार्मिक उद्गार देखिए :

> अजातपक्षा इव मातरं खगाः
> स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः।
> प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा
> मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम्॥ (भागवत)

---

१. एकमूर्तिस्त्रयो देवा ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः।
त्रयाणामन्तरं नास्ति गुणभेदाः प्रकीर्तिताः॥

'जैसे पक्षियों के पंखहीन बच्चे अपनी माँ की बाट जोहते रहते हैं, जैसे भूखे-भूखे बछड़े अपनी माँ का दूध पीने के लिए आतुर रहते है, जैसे वियोगिनी पत्नी अपने प्रवासी प्रियतम से मिलने के लिए उत्कण्ठित रहती है, वैसे ही हे कमलनयन, आपके दर्शन के लिए मेरा हृदय छटपटा रहा है।'

पुराण-साहित्य को कुछ लोग मनगढ़न्त, अनैतिहासिक कहानियों का संग्रह, कुछ समय-समय पर प्रचलित धार्मिक कथाओं का संकलन और कुछ उच्च कोटि के उपदेशपूर्ण ग्रन्थ मानते हैं। एक और मत भी है जो पुराणों में प्रतीक-मात्र देखता है। इसके अनुसार पुराणों मे वर्णित सभी देवी-देवता, उनके रूप, वस्त्राभूषण और कार्य-कलाप आध्यात्मिक और मानसिक तत्त्वों के प्रतीक है। उदाहरणार्थ, विष्णु के स्वरूप में बहुत-से प्रतीकों का प्रयोग किया गया है। उनके हाथों मे शंख, चक्र, गदा और पद्म हैं। शंख प्रतीक है आकाश का, चक्र प्रतीक है चिर-परिवर्तनमय जगत् का, कमल प्रतीक है सृजन का और गदा प्रतीक है बुद्धि की। विष्णु का वाहन गरुड़ है। गरुड़ प्रतीक है काल की वेगवती गति का। इसी प्रकार ब्रह्मा के चार मुख उनके सर्वतोमुखी ज्ञान—चतुर्वेद—के प्रतीक हैं। इस प्रतीकवाद के समर्थक डॉ० भीखनलाल आत्रेय का कथन है कि पुराण-लेखकों ने आध्यात्मिक रहस्यों, समष्टि और व्यष्टि के सूक्ष्म तत्त्वों तथा अव्यक्त घटनाओं को समझाने के लिए व्यक्त भौतिक, ऐतिहासिक और काल्पनिक घटनाओं, कथाओं और दृष्टान्तों का प्रयोग किया है। इसका एक उदाहरण श्रीमद्भागवत का पुरंजनोपाख्यान है, जो पढ़ने में वास्तविक और ऐतिहासिक जान पड़ता है, किन्तु जिसके द्वारा आध्यात्मिक और मानसिक रहस्यों की व्याख्या की गई है।

पुराणों की कुछ कथाएँ आधुनिक इतिहास के क्षेत्र मे चाहे असंगत हों, किन्तु भावों के ससार मे उनका मूल्य कम नहीं। उनमें जो अलौकिकता का पुट पाया जाता है, वही राष्ट्र के महामनीषियों की सांस्कृतिक विशेषताओं को जाति के भाव चित्रपट पर अमिट रूप से अंकित करता है।

इतिहास के पुजारी ऐसी गाथाओं को सुनकर भले ही नाक-भौं सिकोड़े, पर जनसाधारण की तो अपने महापुरुषों को परखने की सदैव यही रीति रही है। आर्य-संस्कृति के मूल्यवान् आदर्शों को साहित्य में मूर्तिमन्त करने का श्रेय पुराणों को है। पुराण हमारी संस्कृति के प्रमुख विधायक हैं।

बहुत समय तक पुराण आधुनिक अन्वेषकों की उपेक्षा के पात्र बने रहे, पर इधर उनकी ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट होने लगा है। श्री पार्जिटर ने परिश्रमपूर्वक पुराणों की वंशावली का अध्ययन करके ऐतिहासिक तथ्यों का आविष्कार किया। श्री विन्सेंट स्मिथ, डॉ० देवदत्त रामकृष्ण भंडारकर, डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल, श्री एच० सी० रायचौधरी प्रभृति विद्वानों ने पुराणों को भारत के प्राचीन इतिहास का स्रोत माना है। पुराणों की सांस्कृतिक खोज करने वालों में स्वर्गीय श्री वी० आर० रामचन्द्र दीक्षितार, डॉ० देवेन्द्रकुमार पाटिल, डॉ० आर० सी० हाजरा आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। पर शायद ही कोई पुराण आधुनिक समीक्षात्मक सम्पादन-शैली का विषय बना हो। अनेक पुराणों के अच्छे संक्षिप्त अनुवाद गोरखपुर के 'कल्याण' में प्रकाशित हुए हैं। श्री रामप्रताप त्रिपाठी ने भी कतिपय पुराणों के भूमिका-सहित अनुवाद हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन प्रयाग से प्रकाशित कराये हैं।

: ४ :

महाकाव्य

आदि-कवि की प्रेरणामयी रचना के बाद जिन कवियों ने संस्कृत की काव्य-शैली को निखारने का प्रयास किया, उनके नाम आज लुप्त-प्राय हो गए हैं, और इस कारण कालिदास से पहले के किसी महत्त्वपूर्ण महाकाव्य की उपलब्धि हमें नहीं होती। फिर भी ऐसे अनेक संकेत अवश्य मिलते हैं जिनसे पाँचवीं शती ई० पू० से लेकर प्रथम शती ई० पू० तक काव्य-साहित्य का पर्याप्त अनुशीलन प्रमाणित होता है। स्वयं पाणिनि 'जाम्बवतीविजय' और 'पातालविजय' नामक काव्यों के कर्त्ता माने जाते हैं। पतञ्जलि ने किसी 'वाररुच-महाकाव्य' के अतिरिक्त कई आख्यायिकाओं और नाटकों का भी उल्लेख किया है। कालिदास के महाकाव्यों में काव्य-शैली का जो श्रेष्ठ परिपाक हुआ है, उससे यह स्पष्ट है कि वाल्मीकि से कालिदास तक अनेक कवियों ने इस क्षेत्र में कार्य किया होगा, पर समय के प्रवाह में, अथवा कालिदास के सर्वातिशायी प्रभाव के कारण, उनकी कृतियाँ नष्ट या विस्मृत हो गईं।

कालिदास के स्थिति-काल का प्रश्न जटिल और विवादास्पद है। यूरोपीय विद्वानों ने द्वितीय गुप्त-सम्राट् चन्द्रगुप्त (३७५-४१३ ई०) के

समुन्नत शासन-काल में कालिदास की स्थिति मानी है, जबकि अधिकाश भारतीय आचार्य प्रथम शताब्दी ई० पू० मे विक्रम-संवत् के प्रवर्त्तक, उज्जयिनी के परमार-वशी राजा विक्रमादित्य के समय में उनका आविर्भाव मानते हैं।

कालिदास ने दो महाकाव्यो की रचना की—'रघुवंश' और 'कुमारसम्भव'। 'रघुवंश' को समालोचकों ने कालिदास का सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य माना है। आदि से अन्त तक उसमें एक निपुण कवि का विलक्षण कौशल झलकता है। दिलीप और सुदक्षिणा के तपोमय-जीवन से इस काव्य का आरम्भ होता है, फिर धीरे-धीरे महान् रघुवंशी राजाओ की वीरता, वदान्यता, त्याग और तपस्या की कहानी उद्घाटित होती है और अन्त में कामुक अग्निवर्ण की विलासिता और उसके दयनीय अवसान से काव्य की समाप्ति होती है। इन्दुमती-स्वयंवर, अज-विलाप, राम-सीता की विमान-यात्रा, निर्वासित सीता की तेजस्विता, अयोध्या-नगरी की शून्यता आदि चित्र एक के बाद एक सामने आते जाते हैं और पाठक को विमुग्ध बनाये रखते हैं। अनेक कथानको को एकत्र करके भी कालिदास ने उनको एक-दूसरे से इस प्रकार समन्वित कर दिया है कि उनमें एक स्वाभाविक प्रवाह का संचार हो गया है। 'रघुवश' के अनेकानेक नृपतियों की चमकती नक्षत्र-माला में कवि ने राम के चरित्र पर ही अपनी प्रतिभा की विशेष सृष्टि की है; वाल्मीकि के महिमाशाली राम को कालिदास ने नई तेजस्विता और गरिमा प्रदान की है। वर्णनों की सजीवता, प्रसंगो की स्वाभाविकता, शैली की मधुरता तथा भाव-भाषा की अनुरूपता में 'रघुवंश' संस्कृत के महाकाव्यों मे अनुपम है।

'कुमारसम्भव' मे कालिदास ने १७ सर्गों में शिव-पार्वती के विवाह, कार्तिकेय के जन्म और तारकासुर के वध की कथा का वर्णन किया है।[1] किन्तु यह एक पौराणिक कथा-वर्णन-मात्र नहीं है, वरन् एक

१. **इनमें से प्रथम आठ सर्ग ही कालिदास की प्रामाणिक रचना माने जाते है।**

ऐसा कवि-कर्म है, जिसने देवाधिदेव शंकर का मानवीकरण करके उनकी सत्ता को भावना, कला और कल्पना के सूत्रों में पिरो दिया है। कामदेव के प्रभाव से पार्वती का अपूर्व सौन्दर्य शिव के चित्त मे क्षोभ उत्पन्न कर देता है, पर यह प्रेम शारीरिक आकर्षण से उत्पन्न था, अतएव क्षणभंगुर और अशुभ था। कवि ने पार्वती की तपस्या का आयोजन करके उसे स्थायी और शुभ बना दिया है। इस प्रकार लौकिक प्रेम का अलौकिक आदर्श स्थापित करके कवि ने जहाँ शिव के शिवत्व की रक्षा की है, वहाँ निसर्ग-कन्या पार्वती को जगन्माता का गौरव भी प्रदान किया है। हाँ, आठवें सर्ग में शिव-पार्वती की रति-क्रीडा का वर्णन करके कालिदास ने एक अमर्यादित एवं प्रगल्भ चेष्टा की है, जिसे मम्मट-जैसे भारतीय साहित्याचार्यों ने कभी क्षमा के योग्य नहीं समझा। अन्यथा, कवित्व की दृष्टि से 'कुमारसम्भव' एक श्रेष्ठ कृति है और अपने सुन्दर भाव-प्रकाशन तथा प्राञ्जल पद-विन्यास के कारण विख्यात है।

कालिदास के कथानकों का बीज यद्यपि प्राचीन आख्यानों मे ढूँढ़ा जा सकता है, तथापि रचना-कौशल के कारण उनमें नवीन और हृदय-ग्राही चमत्कार उत्पन्न हो गया है। उनकी शैली क्लिष्ट या कृत्रिम न होकर सरल और प्रासादिक है। अलंकारों का विरल और सुरुचिपूर्ण प्रयोग करके उन्होंने अपनी कृतियों को स्वाभाविक एवं सहज-सुन्दर बनाया है। कतिपय चुने हुए शब्दों में वर्ण्य विषय की बाँकी झाँकी दिखा देना कालिदास की विशेषता है। उनकी इस शक्ति का चारु निदर्शन 'कुमारसम्भव' के तीसरे सर्ग में हुआ है, जहाँ एक भी विस्तार-सूचक शब्द का उपयोग न करके उन्होंने ध्वनि और भाव के अद्भुत सामञ्जस्य तथा व्यञ्जना-शक्ति के सहारे इने-गिने त्वरित शब्दों मे शिव-प्रलोभन एवं काम-दहन का संक्षिप्त किन्तु मार्मिक दृश्य अंकित कर दिया है। इसके विपरीत 'रघुवंश' के तेरहवें सर्ग की तरह इष्ट वस्तु के सौन्दर्य की पराकाष्ठा दिखलाने की अद्भुत युक्ति का भी कालिदास कभी कभी आश्रय ले लेते हैं। गंगा और यमुना के मिले हुए प्रवाह-संगम की छटा

का वर्णन करते समय जब एक के बाद एक उपमाओं की शृंखला का अन्त ही होता न दिखाई पड़ा, तब कवि ने उसकी शोभा की उपमा शिव के शरीर से ही दे डाली मानो सौन्दर्य को सान्त की सीमा से निकालकर अनन्त के हाथों सौंप दिया।[1]

क्वचिच्च कृष्णोरग भूषणेव भस्मांगरागा तनुरीश्वरस्य।
पश्यानवद्यांगि विभाति गंगा भिन्नप्रवाहा यमुना तरंगैः॥[2]

'यमुना की तरंगों से मिलते हुए इस गंगा के प्रवाह को हे निर्दोष अंगों वाली सीते, जरा देखो तो सही, जो कहीं-कहीं कृष्ण सर्पों से अलंकृत और भस्मांगराग से मण्डित भगवान् शंकर के शरीर के समान सुन्दर प्रतीत हो रहा है।'

कालिदास मुख्यतः कोमल और रमणीय भावों के अभिव्यञ्जक हैं। इसीलिए प्रकृति का भी कोमल, मनोरम और मधुर पक्ष ही उनकी कृतियों में अंकित हुआ है। प्रकृति को उन्होंने एक नारी के रूप में देखा है। तभी तो पवन के झकोरों से थिरकती लताएँ उन्हें नाचती हुई-सी प्रतीत होती हैं—भ्रमरों की कर्ण-मधुर गुञ्जार उनका मादक संगीत है, कोमल फूल उनके चमकते दाँत हैं और हिलते हुए पत्ते उनके लययुक्त हाथ हैं :

श्रुतिसुखभ्रमरस्वनगीतयः कुसुमकोमलदन्तरुचो बभुः।
उपवनान्तलताः पवनाहतैः किसलयैः सलयैरिव पाणिभिः॥[3]

नारी का सौन्दर्य-चित्रण कालिदास के काव्यों की प्रमुख विशेषता है। उनके रमणी-रूप-वर्णन का एक सुन्दर उदाहरण 'कुमार सम्भव' के तीसरे सर्ग में मिलता है, जिसमें वसन्त-शोभा की पृष्ठ-भूमि में पार्वती के सम्मोहक किन्तु नैसर्गिक रूप की मधुर छटा दिखाई गई है। शंकर-पार्वती के पारस्परिक आकर्षण का एक मधुर दृश्य देखिए :

---

१ डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल—'मेघदूत एक अध्ययन', पृ० १४।
२. 'रघुवंश', १३।५७।
३ वही, ९।३५।

हरस्तु किंचित्परिलुप्तधैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः ।
उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि ॥६७॥
विवृण्वती शैलसुतापि भावमंगैः स्फुरद्बालकदम्बकल्पैः ।
साचीकृता चारुतरेण तस्थौ मुखेन पर्यस्तविलोचनेन ॥६८॥

३।६७-८ ।

'जैसे चन्द्रमा के निकलने पर समुद्र में ज्वार आ जाता है वैसे ही पार्वती को देखकर महादेवजी के हृदय में भी कुछ हलचल-सी होने लगी और वह पार्वती के बिम्बा-जैसे लाल होठों पर अपनी ललचाई हुई आँखें डालने लगे । उधर पार्वती भी विकसित बाल-कदम्ब के समान पुलकित अंगों से प्रेम प्रकट करती हुई, लजीली आँखों से अपना अत्यन्त सुन्दर मुख कुछ तिरछा करके खड़ी रह गईं ।'

— अश्वघोष

ईसा की प्रथम शताब्दी में हुए बौद्ध-कवि अश्वघोष की शैली भी कालिदास की तरह वैदर्भी है, जो प्रवाह और प्रासादिकता, स्वाभाविकता और सरलता के लिए प्रख्यात है । कालिदास का पर्याप्त अनुकरण करने पर भी अश्वघोष में कल्पना और वास्तविकता को कला और पाण्डित्य के साथ संयुक्त कर देने की अद्‌भुत मौलिक शक्ति है । 'बुद्ध-चरित' और 'सौन्दरनन्द' उनके दो महाकाव्य हैं । 'बुद्धि-चरित' की केवल खण्डित प्रति प्राप्त हुई है, जिसमें मूल २८ सर्गों में से १७ सर्ग ही उपलब्ध होते हैं, परन्तु चीनी और तिब्बती अनुवादों के रूप में पूरा ग्रन्थ सुरक्षित रह गया है । उसमें भगवान् बुद्ध के चरित का विस्तृत वर्णन है । 'पर वह केवल धर्म-कथा नहीं है और न केवल श्रद्धेय भक्ति का गुण-गान । वह निपुण कवि द्वारा परिकल्पित काव्य है—सरस, प्रवाहमय और उदात्त गुणों से युक्त । मनुष्य के सूक्ष्म और जटिल मनोरोगों को उन्होंने निर्वेदग्रस्त वैरागी की दृष्टि से नहीं, बल्कि संवेदनाशील कवि की आँखों से देखा है ।' सीता की भाँति उनकी यशोधरा वन में गये हुए अपने पति के लिए चिन्ता करती है :

शुचौ शयित्वा शयने हिरण्मये प्रबोध्यमानो निशि तूर्यनिस्वनैः ।
कथं बत स्वप्स्यति सोऽद्य मे व्रती पटैकदेशान्तरिते महीतले ॥

'जो अब तक विशुद्ध स्वर्णमयी शय्या पर शयन करते थे और जिन्हें तुरही का घोष नींद से जगाया करता था, व्रतों से बँधे मेरे वह पति आज जमीन पर एक चटाई बिछाकर कैसे सोयेंगे ?'

'सौन्दरनन्द' १८ सर्गों की अपेक्षाकृत अधिक प्रौढ़ एवं परिमार्जित कृति है। बुद्ध के छोटे भाई नन्द उनके उपदेशों से सांसारिक विषयों से आसक्ति त्यागकर किस प्रकार बौद्ध-धर्म में दीक्षित हुए—इस छोटे-से कथानक की ओट में कवि ने अपने धर्म का प्रचार किया है। किन्तु उसमें आख्यान-वर्णन या बौद्ध-धर्म का प्रतिपादन-मात्र नहीं है; भाषा की प्रासादिकता, भावों की कोमलता, शैली की चारुता और वर्णन की सजीवता ने काव्य में प्राण फूँक दिये हैं। नन्द की दुविधा का एक चित्रण देखिए, जिस पर 'कुमारसम्भव' (५।८५) का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है :

तं गौरवं बुद्धगतं चकर्ष भार्यानुरागः पुनराचकर्ष ।
सोऽनिश्चयान्नापि ययौ न तस्थौ तरंस्तरंगेष्विव राजहंसः ॥४।४२॥

'एक ओर बुद्ध के उपदेश का प्रभाव और दूसरी ओर पत्नी का अनुराग इन उभय आकर्षणों के बीच नन्द की स्थिति नदी की धारा के विरुद्ध तैरते हुए उस हंस की-सी हो गई जो न तो आगे ही बढ़ता है और न पीछे ही हट सकता है।'

अश्वघोष के बाद महाकाव्यों की परम्परा में एक परिवर्तन आया। पूर्ववर्ती ग्रन्थों के आधार पर अलंकार-शास्त्र के आचार्यों ने काव्य-कौशल, उक्ति-वैचित्र्य और रस-परिपाक का सूक्ष्म विवेचन करके कवियों के लिए कतिपय रूढ़ियाँ निर्धारित कर दीं। दण्डी ने महाकाव्य की परिभाषा करके उसके आकार-प्रकार, वर्णन, छन्द, नायक, कथानक, रस इत्यादि के नियम निर्धारित कर दिए। परिणामतः कविगण अपनी रचनाओं में इन्हीं रूढ़िगत आदर्शों को ढालने की चेष्टा करने लगे, जिससे उनका

अपना व्यक्तित्व नियन्त्रित हो गया। काव्यों मे शब्द-विन्यास-चातुरी, रचना-वैचित्र्य, वर्णन-कौशल और अलकार-प्रदर्शन को अधिक स्थान मिलने लगा। विद्वत्ता और बहुज्ञता कविता को बोझिल बनाने लगी। लोगों को काव्य-सुषमा की अपेक्षा पाण्डित्य अधिक प्रभावित करने लगा। मानव-स्वभाव का अध्ययन, शास्त्रों का ज्ञान, साहित्य, इतिहास आदि का परिचय, काव्य-मर्मज्ञ से प्रशिक्षण तथा सतत अभ्यास ही कवि-स्रोत माने जाने लगे :

शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्र काव्याद्यवेक्षणात् ।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ॥

कवियो के प्रायः राज्याश्रित होने के कारण राजकीय जीवन की, उसकी विलासिता की छाप भी काव्यो पर बैठ गई। स्त्री-सौन्दर्य-वर्णन को प्रमुखता दी जाने लगी। पाश्चात्य विद्वानो ने ऐसे काव्यों को कृत्रिम काव्य-रचना माना है, किन्तु उन्हे अलंकृत काव्य-शैली के अन्तर्गत मानना अधिक समीचीन होगा।

भारवि

इस प्रकार की अलंकृत काव्य-शैली के प्रवर्त्तक महाकवि भारवि माने जाते है। पुलकेशी द्वितीय के ६३४ ई० के शिला-लेख मे उनका कालिदास के साथ नामोल्लेख किया गया है। अतः उनका स्थिति-काल ६०० ई० के आसपास होना चाहिए। उनके 'किरातार्जुनीय' महाकाव्य की कथा-वस्तु 'महाभारत' के वन-पर्व से ली गई है। अर्जुन द्वारा भगवान् शिव से पाशुपत-अस्त्र पाने की घटना को प्रतिमण्डित करके कवि ने राजनीतिक शिष्टाचार, नीति-पाटव और वीर-रस का प्रभावोत्पादक चित्रण किया है। भारवि में कालिदास का-सा सौष्ठव और स्वर-माधुर्य नहीं है। उनकी कविता बौद्धिकता के भार से दबी है। फिर भी उनमे सुन्दर शब्द-चित्रो का निर्माण करने की क्षमता है। प्रकृति और नारी का सौन्दर्य अकित करने मे उन्होने कुशलता दिखाई है। उनकी प्रतिभा वर्णनात्मक

और तर्कात्मक प्रसंगो मे अधिक दीख पड़ती है। 'किरातार्जुनीय' अपने अर्थ-गौरव के लिए प्रसिद्ध है; उसमे संक्षिप्तता के साथ विपुल भाव प्रकट किये गए हैं। उसका चरित्र-चित्रण प्रभावपूर्ण है। भारवि ने दीर्घ समासों का प्रयोग नही किया है। उनका वाक्य-विन्यास सुस्पष्ट और ओजस्वी है। सुयोधन की एक प्रशंसा देखिए :

न तेन सज्यं क्वचिदुद्यतं धनुः कृतं न वा तेन विजिह्ममाननम्।
गुणानुरागेण शिरोभिरुह्यते नराधिपैर्माल्यमिवास्य शासनम्॥

'उसने धनुष उठाकर कभी शर-सन्धान नहीं किया और न उसने कभी भौंहे टेढी करके अपना मुख-मण्डल ही विकृत किया है। यह तो राजाओ का उसके गुणो के प्रति अनुराग है, जिससे प्रेरित होकर वे उसके शासन को माला की भाँति अपने मस्तक पर धारण करते हैं।'

भारवि ने कहीं-कहीं व्याकरण के दुरूह प्रयोगो तथा अलंकारो का प्रदर्शन किया है। चित्रबन्ध-शैली मे उन्होने एक समूचे सर्ग (१४वे) की रचना करके शाब्दिक चमत्कार का अनूठा प्रदर्शन किया है। केलि-विहार आदि के वर्णन से उन्होंने अपने काव्य को पर्याप्त भूषित किया है। अपनी इन विशेषताओ द्वारा भारवि ने यह संकेत दिया है। कि संस्कृत-काव्य-धारा की प्रवृत्ति एक नया मोड़ लेने लगी थी।

शास्त्र-काव्य

व्याकरण-ज्ञान का प्रदर्शन करने के लिए ही रची गई एक शास्त्रीय काव्य कृति भट्टि-कृत 'रावण-वध' या 'भट्टि-काव्य' (६००ई०) है उसमे २२ सर्गों मे 'वाल्मीकि-रामायण' के प्रथम छः काण्डो की कथा किञ्चित् परिवर्तन के साथ वर्णित है, पर मुख्य उद्देश्य व्याकरण के उदाहरण प्रस्तुत करना है। कवि की सारी कल्पना एवं प्रतिभा इसी उद्देश्य की दासी बन गई है। फलस्वरूप काव्यत्व की हानि हुई है। कवि शब्द-स्वातन्त्र्य का आश्रय नहीं ले सका है। उसे केवल वही शब्दावली चुननी पड़ती है जो विशिष्ट व्याकरण-प्रयोग का उदाहरण बन सके। फिर भी यह स्वीकार करना होगा

कि भट्टि का आख्यान, प्रवाह लम्बे विषयान्तरों के बिना गतिमान रहता है. उनकी भाषा व्याकरण-पाण्डित्य से आक्रान्त होने पर भी, जटिलता या आयासपूर्ण समासों से मुक्त है। उनके भावों मे दुरूहता या अस्पष्टता नहीं है। काव्योचित सरसता का उनमें अभाव नहीं है। नदी-तट की शोभा का एक वर्णन देखिए :

बिम्बागतैस्तीरवनैः समृद्धिं निजां विलोक्यापहृतां पयोभिः ।
कूलानि साऽमर्षतयेव तेनुः सरोजलक्ष्मीं स्थलपद्महासैः ॥२।३॥

अर्थात् जब तटवर्ती वनो ने देखा कि प्रतिबिम्ब के छल से जल हमारी शोभा का अपहरण कर रहे हैं तब उन्होंने मानो क्रोध से स्थल-कमल के विकास के बहाने जल की कमल-शोभा का हरण कर लिया।

कहते हैं कि जावा और बाली में प्रचलित राम-कथा का मूल आधार 'भट्टिकाव्य' ही है और दक्षिण की भाषाएँ भी उससे प्रभावित हुई हैं। भट्टि ने जिस शास्त्र काव्य की परिपाटी चलाई, उसके अनुकरण पर बाद में कई काव्य लिखे गए। भौमक के 'रावणार्जुनीय' में रावण और कार्तवीर्य अर्जुन के युद्ध की कथा तो गौण है, मुख्य लक्ष्य पाणिनीय व्याकरण के नियमों का उदाहरण उपस्थित करना है। हलायुध-कृत 'कवि-रहस्य' में दक्षिण के राजा कृष्णराज तृतीय (६४०-६५६ ई०) की प्रशस्ति के व्याज से धातु-पाठ ही दे दिया गया है। हेमचन्द्र के 'कुमारपालचरित' मे भी व्याकरण-नियमों का स्पष्टीकरण ही प्रमुख उद्देश्य है।

कुमारदास

भट्टि के कुछ ही परवर्ती कुमारदास (६५० ई०) ने भी 'रामायण' की कथा को नवीन कलेवर देने का प्रयास किया। उनके २५ सर्गों के महा-काव्य 'जानकी हरण' पर कालिदास का प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा है। यह मूल रूप मे आज उपलब्ध नहीं है, पर सिंहली भाषा मे उसका शब्दशः रूपान्तर मिलता है। कहा जाता है कि कुमारदास ५१७-५२६ ई० तक लंका के राजा थे। 'जानकी हरण' मे दशरथ और उनकी पत्नियों की

जल-क्रीड़ा, राम और सीता के पूर्वानुराग आदि शृंगारिक वर्णनों को प्रधानता दी गई है। कुमारदास की वर्णन-शैली सुन्दर है; उसमे प्रसाद, माधुर्य और सुकुमारता का पर्याप्त सचार हुआ है। राम की बाल-लीला का एक वर्णन देखिए :

न स राम इह क्व यात इत्यनुयुक्तो वनिताभिरग्रत.।
निजहस्तपुटावृताननो विदधेऽलीकनीलमर्भक ॥

'राम यहाँ नहीं हैं, वह कहाँ चले गए ?' इस प्रकार पुकारती हुई स्त्रियाँ राम को खोज रही थीं; और उधर वह बालक अपने हाथो से नेत्रो को बन्द करके आँख-मिचौनी खेल रहा था।

माघ

अलङ्कृत काव्य-शैली के पोषकों मे महाकवि माघ का प्रमुख स्थान है। उनके पिता का नाम दत्तक सर्वाश्रय था तथा उनके पितामह सुप्रभ-देव राजावर्मलात के मन्त्री थे, जिनका ६२५ ई० का एक शिला-लेख पाया गया है। अतः माघ सातवीं शती के उत्तरार्ध मे हुए थे। उनके 'शिशुपालवध' महाकाव्य मे २० सर्ग और १,६५० श्लोक है तथा श्रीकृष्ण द्वारा चेदिराज शिशुपाल के वध की कथा वर्णित है। यह काव्य प्रौढ एवं उदात्त शैली का—पाडित्य और प्रतिभा का—एक असाधारण उदाहरण है। सर्वांगीण शास्त्र-ज्ञान का उसमे अद्भुत परिचय मिलता है। अलंकृत वर्णनों का भरा-पूरा ठाट उसमे देखने को मिलता है। माघ का शब्द-भण्डार विचक्षण है। नवीन, ललित और परिष्कृत शब्दावली के वह धनी हैं। उनके वाक्यों मे गति, सहजता और सन्तुलन है उनके पद्यो मे गीति और नाद का, अर्थ और ध्वनि का मनोहर पुट दीख पड़ता है। शैली की असाधारणता समग्र काव्य में लक्षित होती है। उनके सवाद बडे सरल और ओजस्वी हैं तथा उनके वर्णन परम्परा-मुक्त होने पर भी सजीव, अतिशय अलंकृत और ऊँची कल्पना के परिचायक हैं। रैवतक पर्वत के विषय में हाथी की कैसी विलक्षण उत्प्रेक्षा की गई है :

उदयति विततोर्ध्वरश्मिरज्जावहिमरुचौ हिमधाम्नि याति चास्तम् ।
वहति गिरिरयं विलम्बिघण्टाद्वयपरिवारितवारणेन्द्रलीलाम् ॥४।२०॥

एक ओर सूर्य ऊपर फैली हुई किरण-रूपी रस्सियो के सहारे उदय हो रहा है तो दूसरी ओर चन्द्रमा अस्ताचल की ओर जा रहा है। इस प्रकार यह पर्वत उस गजराज की शोभा धारण कर रह रहा है, जिसके दोनों ओर दो उज्ज्वल घण्टे लटक रहे हों। इस प्रकार के शब्द-चित्र-निर्माण मे माघ ने अद्वितीय प्रतिभा का परिचय दिया है। भारतीय पण्डितों ने कालिदास की उपमा, भारवि के अर्थ-गौरव तथा दण्डी के पद-लालित्य की सराहना करते हुए माघ मे इन तीनों गुणों का एकत्र सन्निवेश बताया है :

उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम् ।
दण्डिनः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः ॥

आधुनिक आलोचक इस प्रशस्ति मे कुछ अत्युक्ति पाते हैं और माघ में अलंकार-प्रदर्शन की मात्रातीत रुचि, लम्बे और बोझिल वर्णन तथा शृंगार रस का अतिरेक-जैसे दोष सहज ही ढूँढ लेते हैं। कहते हैं कि भारवि के यशःसूर्य को अस्त करने के लिए माघ को अपने काव्य की श्रमपूर्वक रचना करनी पड़ी उनके शब्दालकार जहाँ उनकी विदग्धता के सूचक हैं वहाँ क्लिष्टता और रस-हानि के भी जनक हुए है। १९वें सर्ग में उन्होंने अनेक प्रकार के चित्रबन्ध पद्य लिखे हैं। उनकी शब्द-क्रीडा का एक विचित्र उदाहरण देखिए, जिसमे 'भ' और 'र' के अतिरिक्त और कोई तीसरा अक्षर ही नहीं है :

भूरिभिर्भारिभिर्भीरैर्भूभारैरभिरेभिरे ।
भेरीरेभिभिरभ्राभैरभीरुभिरिभैरिभाः ॥१९।६६॥

अर्थात् 'हाथियो का द्वन्द्व-युद्ध आरम्भ हो गया था। हाथी हाथी से गुथ रहा था। उनकी संख्या बहुत थी। उनकी पीठ पर पताका एवं अन्यान्य युद्ध-सामग्री लदी हुई थी। वे देखने मे भयानक मेघ-जैसे काले और महाकाय होने के कारण भू-भार की तरह जान पड़ते थे।'

यह नहीं भूलना चाहिए कि ये दोष व्यक्तिगत न होकर उस युग की साहित्यिक रूढ़ियाँ और माघ अपने युग के एक श्रेष्ठ प्रतिनिधि थे।

कश्मीरी कवि

कश्मीर की भूमि संस्कृत-काव्य के विकास के लिए बड़ी उर्वरा सिद्ध हुई और उसने भारत को अनेक महाकवि प्रदान किये। पाँचवीं शती के भर्तृमेण्ठ का 'हयग्रीववध' आज उपलब्ध नहीं है, पर नवीं शताब्दी में रचित रत्नाकर का 'हरिविजय' महाकाव्य अपनी विपुलता के कारण विख्यात है। रत्नाकर कश्मीर के राजा चिप्पट जयापीड (८३२-८४४ ई०) और अवन्तिवर्मा (८५५-८८४ ई०) के आश्रित थे। उनकी कृति में शिव द्वारा अन्धकासुर के वध की लघु कथा का ५० सर्गों में विभाजित ४,३२० श्लोकों में अत्यन्त विस्तार कर दिया गया है। संस्कृत-साहित्य का यह सबसे बड़ा महाकाव्य है। अपने युग के अनुरूप रत्नाकर ने उत्प्रेक्षा, यमक और श्लेष के प्रयोग में अपनी अलंकार-पटुता का व्यापक प्रदर्शन किया है। वागीश्वर और विद्यापति उनकी दो उपाधियाँ थीं, जो उनके शब्द-नैपुण्य और शास्त्रीय पाण्डित्य को भली भाँति सूचित करती हैं। अलंकृत-काव्य की सभी परम्पराओं का पालन करने में उन्होंने अति कर दी है। फिर भी यदि उनके काव्य का धैर्य पूर्वक अध्ययन किया जाय तो उसमें नाट्य, संगीत और चित्रकला-जैसी ललित कलाओं पर भी वैज्ञानिक ढंग की सामग्री मिलेगी।

रत्नाकर के ही समकालीन महाकवि शिवस्वामी थे, जिनके २० सर्गों के 'कप्फिणाभ्युदय' काव्य में कप्फिण नामक राजा के बौद्ध बनने का वृत्तान्त मिलता है। शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों का उन्होंने खूबी से प्रयोग किया है।

कश्मीरी कवियों में सर्वाधिक बहुज्ञ और प्रतिभाशाली ११वीं शती के महाकवि क्षेमेन्द्र थे, जिन्होंने अनेकानेक ग्रन्थों की रचना करके

संस्कृत साहित्य की श्री वृद्धि की उनके काव्यों में 'महाभारत' का कथा-सार देने वाली 'भारत-मंजरी', विष्णु के दस अवतारों का वर्णन करने वाला 'दशावतार-चरित' तथा 'रामायण' पर आधारित 'रामायण-मंजरी' सुप्रसिद्ध हैं। १२ वीं शती में कवि मंखक ने 'श्रीकण्ठचरित' में भगवान् शंकर के त्रिपुर-विजय की कथा का वर्णन किया है।

कविराज

संस्कृत-भाषा में अर्थ-गम्भीर एवं श्लिष्ट पदों के प्रयोग के लिए जो अपार क्षेत्र उपलब्ध है, उसने एक विचित्र प्रकार की काव्य-शाखा को जन्म दिया, जिसे द्व्यर्थक या अनेकार्थक काव्य कहा जाता है। इस प्रकार की कविता के सिद्धहस्त कवि कविराज हुए हैं, जो जयन्तपुरी के कदम्ब राजा कामदेव (११८२-९७ ई०) के सभा-पण्डित थे। उनके 'राघवपाण्डवीय' के प्रत्येक श्लोक में श्लेष द्वारा 'रामायण' और 'महाभारत' की कथा का साथ-साथ वर्णन किया गया है। निम्नलिखित पद्य में उनके इस रचना-वैचित्र्य का एक उदाहरण मिलेगा, जिसमें राम के हाथों अहल्या-उद्धार और युधिष्ठिर के हाथों एक गन्धर्व की मुक्ति का एक साथ उल्लेख किया गया है :

मार्गेश्वरो दीर्घतमःसुतस्य
कलत्रकृच्छ्रप्रतिमोक्षणेन।
अंगारवर्णस्य जितात्मनोऽसौ
चकार तोषं नरदेवजन्मा॥

'रामायण' के अनुसार इस श्लोक का अर्थ इस प्रकार होगा—'मार्ग में राजकुमार (राम) ने दीर्घतम के पुत्र (गौतम) को, जो अग्नि के सदृश चमकते वर्ण वाले और जितेन्द्रिय थे, उनकी पत्नी (अहल्या) को (शिला बन जाने के) शाप से मुक्त करके, प्रसन्न किया।' 'महाभारत' के प्रसंग में 'तमःसुतस्य' को अलग करके इस प्रकार अर्थ करना होगा—'(गंगा के निकट) गाढ़े अन्धकार वाले मार्गों पर भ्रमण करते

हुए राज-पुत्र (युधिष्ठिर) ने पराजित (गन्धर्वराज) अग्नि वर्ण को उसकी पत्नी की प्रार्थना पर मृत्यु के भय से मुक्त करके, प्रसन्न किया।'

'राघवपाण्डवीय' के अनुकरण पर संस्कृत मे कई अनेकार्थक काव्यो की रचना हुई, यथा हरिदत्त सूरि का 'राघवनैषधीय'; जिसमे राम और नल की कथा साथ-साथ वर्णित है, और चिदम्बर का 'राघव-यादव-पाण्डवीय'; जिसमे 'रामायण', 'भागवत' और 'महाभारत' की कथा साथ-साथ वर्णित है। १५४२ ई० के रामचन्द्र-रचित 'रसिक-रंजन' के पद्यो मे एक ओर से पढ़ने पर शृंगारात्मक कविता मिलती है और दूसरी ओर से पढ़ने पर तपस्या की प्रशसा। १७वीं शताब्दी के सूर्य कवि-रचित 'राम कृष्ण विलोम काव्य' में इसी प्रकार राम और कृष्ण की कथा वर्णित है।

श्रीहर्ष

अलकृत शैली की कविता का चरमोत्कर्ष श्रीहर्ष का प्रसिद्ध महाकाव्य 'नैषध' या 'नैषधीयचरित' है। श्रीहर्ष कन्नौज के राजा जयचन्द राठौर (११६६-११६५ ई०) के सभा-पण्डित थे। 'नैषध' मे नल-दमयन्ती के अनुराग और विवाह की कथा शोभातिशायक अलंकारो से विभूषित होकर सविस्तर वर्णित है। उसमे नल के निर्वासित जीवन की कारुणिक दशा का चित्रण नहीं हुआ है। इस प्रकार वह एक शृंगार-रस प्रधान काव्य है। अलंकार-युग की सर्वश्रेष्ठ प्रतिभा श्रीहर्ष में मूर्तिमती हो गई है। काव्य-कला की दृष्टि से 'नैषध' सस्कृत-भारती का मनोरम शृगार है। शब्दो के मनोहर विन्यास मे, भावों के सुन्दर निर्वाह मे, कल्पना के अद्भुत चमत्कार में एवं प्रकृति के सजीव चित्रण में श्रीहर्ष ने अद्भुत कौशल का परिचय दिया है। भाषा के अनूठे और विचित्र प्रयोग द्वारा वह एक ही पद्य में अनेक भावों की सृष्टि कर देते हैं। टीकाकारो ने उनके श्लोकों के एकाधिक अर्थ निकाले हैं। अपने प्रगाढ दार्शनिक ज्ञान को उन्होने स्थल-स्थल पर प्रकट कया है। अपने युग के

समस्त गुण-दोषों का परिपाक 'नैषध' में दीख पड़ता है। शृंगार-रस की मधुर व्यञ्जना में कवि ने विलक्षण नवीनता और सहृदयता का परिचय दिया है। हंस-दमयन्ती का संवाद मधुर कल्पनाओं और पद-लालित्य से भरपूर है। इसमे उन्होंने कहीं सरल पद्यावली प्रस्तुत की है तो कहीं क्लिष्ट अर्थ वाले पद्य। उनकी वैदर्भी शैली का एक उदाहरण देखिए :

धन्यासि वैदर्भि गुणैरुदारैर्यया समाकृष्यत नैषधोऽपि।
इतः स्तुतिः का खलु चन्द्रिकाया यदब्धिमप्युत्तरली करोति ॥३।११६।

'हे वैदर्भी, तुम धन्य हो जो अपने उदार गुणों से नैषधराज नल को भी आकर्षित कर चुकी हो। चन्द्रिका की इससे बढ़कर क्या प्रशंसा होगी कि वह सागर को भी उत्तरल (प्रेमातुर) कर देती है।'

'नैषध' में श्रीहर्ष ने मौलिक उत्प्रेक्षाओं की उद्भावना की है। रात-भर आकाश में छिटकने वाले तारे प्रातःकाल कहाँ चले जाते है, इस पर कवि कैसी विचित्र कल्पना करता है :

भृशमबिभरुस्तारा हाराच्च्युता इव मौक्तिकाः
सुरसुरतजक्रीडालूनाद् द्यु सद्मियदङ्गणम्।
बहुकर कृतात्प्रात.सम्मार्जनादधुना पुन-
र्निरुपधिनिजावस्थालक्ष्मीविलक्षणमीक्षते ॥१६।१२॥

अर्थात् 'रात मे देवताओं की रति-क्रीड़ा के समय टूटे हारो के मोती ही तारो के रूप में उनके गगनागण मे फैले थे। अब प्रभात-वेला में सूर्य-रूपी भृत्य ने अपनी किरणो की कूची से उन्हे बटोर दिया, जिससे देव-प्रांगण आकाश फिर से पूर्ववत् स्वच्छ दिखाई दे रहा है।'

'नैषधीय-चरित' ने मध्य-युग के आलोचकों को अत्यधिक आकर्षित किया और वही संस्कृत का अन्तिम महत्त्वपूर्ण काव्य है। उसके बाद संस्कृत-काव्यो का वातावरण साधारण जीवन से दूर हट गया।

ऐतिहासिक काव्य

इसी स्थल पर संस्कृत-काव्य की एक भिन्न-शैली का उल्लेख कर

देना अप्रासंगिक न होगा। आठवीं-नवीं शताब्दी के बाद संस्कृत-कवियों में अपने आश्रयदाता राजाओं को लक्ष्य करके काव्य रचने की परिपाटी चल पड़ी, जिन्हें ऐतिहासिक काव्य कहा जाता है। वस्तुतः इनमें उतनी ऐतिहासिकता नहीं होती, जितनी काव्य में रूढ़ बने विषयों का वर्णन करने की प्रवृत्ति और अपने आश्रयदाता को एक आदर्श नृपति के रूप मे अंकित करने की भावना। फिर भी सूक्ष्म आलोडन करने से उनमे महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्य ढूँढ़े जा सकते हैं।

संस्कृत के ऐतिहासिक पद्य-काव्यों मे प्रथम उपलब्ध कृति पद्मगुप्त अथवा परिमल-कृत 'नवसाहसांक-चरित' (१००५ ई०) है। पद्मगुप्त धारा-नरेश मुञ्ज और उनके पुत्र सिन्धुराज (नवसाहसांक) के राज-कवि थे। सिन्धुराज किस प्रकार पराक्रमपूर्वक नागकन्या शशिप्रभा को प्राप्त करते हैं, इस घटना का विस्तृत एवं कवित्वपूर्ण वर्णन करके कवि ने अपने आश्रयदाता के चरित पर प्रकाश डाला है। मुख्यतः एक प्रशस्ति होते हुए भी यह काव्य नीर-क्षीर विवेक से छान-बीन किये जाने पर परमारवंशी राजाओं के इतिहास के लिए उपादेय है। 'नवसाहसांक-चरित' मे १८ सर्ग और १,५०० पद्य हैं। उसकी रचना वैदर्भी शैली मे की गई है। भाव-प्रकाशन की सुष्ठुता एवं स्वर-माधुर्य का उसमे पर्याप्त सञ्चार हुआ है। उसमे कालिदास की-सी प्रासादिकता और मनोहरता के दर्शन होते हैं। पद्मगुप्त का निम्नलिखित पद्य बड़ा प्रसिद्ध है, जिसमे राजा की नीली तलवार से शुभ्र यश की उत्पत्ति का विषम वर्णन किया गया है :

सद्यः करस्पर्शमवाप्य चित्रं रणे-रणे यस्य कृपाणलेखा।
तमालनीला शरदिन्दुपाण्डु यशस्त्रिलोक्याभरणं प्रसूते॥

अर्थात् 'आश्चर्य है, राजा के हाथों का स्पर्श पाकर प्रत्येक युद्ध मे उनकी तलवार की धार, तमाल के समान नील वर्ण होने पर भी, शरत्कालीन चन्द्रमा के समान उज्ज्वल, त्रैलोक्य-भूषण-स्वरूप यश को उत्पन्न करती है।

दूसरा प्रसिद्ध ऐतिहासिक काव्य कश्मीरी कवि बिल्हण का 'विक्रमांकदेवचरित' (१०८५ ई०) है, जिसमें १८ सर्गों में चालुक्य-वंशी राजा विक्रमादित्य का चरित वर्णित है। इससे दक्षिण भारत की तत्कालीन राजनीतिक स्थिति का परिचय मिलता है। किन्तु कवि का मुख्य लक्ष्य काव्य-सौन्दर्य की सृष्टि करना होने के कारण ऐतिहासिक विवरण गौण हो गया है। सच है, काव्य-प्रतिभा की सुकुमार शलाका इतिहास की कठोर शिला को कैसे भेद सकती है; कहीं मोती को बेधने वाली सुई टाँकी का काम दे सकती है :

न मौक्तिकच्छिद्रकरी शलाका।

प्रगल्भते कर्मणि टंकिकायाः॥ ११६॥

काव्य के नाते बिल्हण की रचना सुन्दर बनी है। वैदर्भी शैली का अनुसरण करके उन्होंने लम्बे समासों से बचे रहने की चेष्टा की है। उनकी भाषा सरल और स्पष्ट है। उन्होंने शब्दालंकारों का मात्रातीत सहारा नहीं लिया है। अपनी जन्मभूमि कश्मीर के खोनमुख ग्राम का कैसा सुन्दर वर्णन उन्होंने किया है :

ब्रूमस्तस्य प्रथमवसतेरद्भुतानां कथानां

किं श्रीकण्ठश्वशुरशिखरि क्रोडलीला ललाम्नः।

एको भागः प्रकृतिसुभगं कुंकुमं यस्य सूते।

द्राक्षामन्यः सरससरयूपुण्ड्रकच्छेद पाण्डुम्॥

'आश्चर्यमयी कथाओं के आदि-स्रोत उस प्रदेश का मैं क्या बखान करूँ, जो भगवान् शंकर के श्वसुर हिमालय के शिखर का लीलामय आभूषण है! उसका एक भाग जहाँ अपने स्वाभाविक सुन्दर रूप में कुंकुम की सृष्टि करता है वहाँ दूसरा भाग सरयू-तट के रसभरे गन्नों के टुकड़ों-जैसे पीले अंगूर उत्पन्न करता है।'

ऐतिहासिक महाकाव्यों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण 'राजतरंगिणी' (११४८-११५१ ई०) है, जिसमें महाकवि कल्हण ने ८ खण्डों में विभाजित ७,८२६ श्लोकों में अपने समय तक के कश्मीर के प्रत्येक राजा के

शासन-काल का यथाक्रम विवरण दिया है। तत्कालीन कश्मीर का वह एक प्रकार से विश्व-कोश है। घटनाओं का उपन्यास-सा मनोरञ्जक वर्णन, तिथियों का निर्देश, निष्पक्षता से विभिन्न राजाओं के गुण-दोषों का अंकन तथा काव्य-माधुर्य का संचार ये सब 'राजतरंगिणी' को एक अनुपम महाकाव्य बना देते हैं। इतिहासकार का दृष्टिकोण कैसा होना चाहिए, इसकी व्याख्या कल्हण ने स्वयं इस प्रकार की है :

श्लाघ्य स एव गुणवान् रागद्वेषबहिष्कृता।
भूतार्थकथने यस्य स्थेयस्येव सरस्वती॥

अर्थात् 'जिस इतिहासकार की लेखनी राग-द्वेष से मुक्त होकर घटनाओं के यथातथ्य प्रकाशन में स्थिर रहती है, वही गुणी और प्रशंसा का पात्र है।'

इतिहास को विस्मृत न होने देने में कवियों का कितना अधिक योग रहता है, इसका वर्णन देखिए :

भुजतरुवनच्छायां येषां निषेव्य महौजसाम्।
जलधिरशना मेदिन्यासीदसावकुतोभया॥
स्मृतिमपि न ते यान्ति क्ष्मापा विना यदनुग्रहम्।
प्रकृतिमहते कुर्मस्तस्मै नमः कविकर्मणे॥

'हम कवियों के वास्तविक एवं महान् कला-कौशल को नमस्कार करते हैं, क्योंकि उसके बिना उन प्रतापी राजाओं का स्मरण भी न किया जाता जिनकी बलवान् भुजाओं की छाया में समुद्र-रूपी करधनी वाली यह पृथ्वी सुरक्षित एवं निर्भय बनी रही।'

अन्य ऐतिहासिक काव्यों में उल्लेखनीय जैन-मुनि हेमचन्द्र का 'कुमारपालचरित' (११६३ ई०) है, जिसमें चालुक्य-वंशी राजा कुमारपाल के जीवन-चरित का काव्यमय वर्णन है। सन्ध्याकर नन्दी के 'रामपाल-चरित' में बंगाल के राजा रामपाल (१०८४-११३० ई०) के शासन-काल का विवरण है। अन्वेषकों के अनुसार इससे बंगाल, बिहार, मध्यप्रदेश और उड़ीसा के इतिहास के लिए उपयोगी सामग्री मिलती है।

जयानक के 'पृथ्वीराज विजय' में (१२०० ई०) में दिल्ली के अन्तिम हिन्दू-सम्राट् पृथ्वीराज का चरित वर्णित है।

संस्कृत के काव्यों की परिसीमाएँ

संस्कृत-काव्या के अध्ययन तथा रसास्वादन में कई कठिनाइयाँ हैं। कालिदास, अश्वघोष-जैसे कतिपय कवियों की प्रासादिक रचनाओं के अतिरिक्त अधिकांश संस्कृत-महाकाव्य उन लोगों के लिए बोधगम्य नहीं होते जिन्हें इस भाषा में निपुणता प्राप्त नहीं है, और उनके लिए भी, जो संस्कृत में पर्याप्त गति रखते हैं, टीकाओं की सहायता लेना आवश्यक हो जाता है। अतः संस्कृत के काव्य हमारे अवकाश के क्षणों में आनन्द और मनोरंजन के सहज साधन प्राय नहीं बन पाते। भारत के प्राचीन महाकवियों ने विशेषज्ञों के लिए अपनी रचनाएँ प्रस्तुत कीं। वे अपने समय के ज्ञान-विज्ञान के पण्डित थे, भाषा-प्रयोग में वे सिद्धहस्त थे और स्वभावोक्ति के स्थान पर वक्रोक्ति द्वारा अपने पाठकों या श्रोताओं को रिझाना चाहते थे। एतदर्थ उनके पास एक अतिशय सुन्दर भाषा का विलक्षण वैभव और शाब्दिक चमत्कार तथा विविध प्रकार के दीर्घ और लघु छन्दों के समृद्ध साधन उपलब्ध थे। उनके कथानक अवश्य ही सुविदित हैं। किन्तु हमें यह न भूलना चाहिए कि जिस समाज के लिए ये काव्य रचे गए, वह सुपरिचित नायक-नायिकाओं को ही देखना-सुनना पसन्द करता था। संस्कृत-काव्यों में जो गौरव है, शब्द-संगीत का जो माधुर्य है, अनुप्रासों का जो उतार-चढ़ाव है, अर्थ का जो चमत्कार है तथा परम्परागत जो वातावरण है, उसके कारण वे इस समाज के लिए पर्याप्त चमत्कारी सिद्ध हुए। उनकी रूढ़िबद्धता और अवास्तविकता आधुनिक दृष्टिकोण से देखने पर ही प्रतीत होती है, अन्यथा कल्पना का प्रचुर वैभव, प्राकृतिक दृश्यों का सजीव चित्रण, महान् आदर्शों की ओर संकेत तथा प्रभावोत्पादक चरित्रों की सृष्टि—ये विशेषताएँ उन्हें शाश्वत गरिमा प्रदान करती हैं। उनमें प्रयुक्त होने

वाले लम्बे समासों तथा क्लिष्ट और श्लिष्ट पदों के विरुद्ध आज जितना भी कहा जाय, पर इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि संस्कृत भाषा में भाव-प्रकाशन की एक अद्भुत क्षमता है। दैनिक व्यवहार मे आने वाली लोक-भाषा यदि अरबी घोड़ा है तो देव-वाणी संस्कृत उत्तुङ्ग हाथी है—व्यावहारिक दृष्टि से यह घोड़ा चाहे कितना ही शीघ्रगामी और उपयोगी क्यों न हो, पर एक अलंकृत पर्वताकार हाथी मे जो शोभा और प्रतिष्ठा है, उसकी चाल मे जो मदमाता गाम्भीर्य और मनोहर सौष्ठव है, उसकी तुलना में घोड़ा कहाँ ठहर सकता है।

पाश्चात्य विद्वानों ने संस्कृत के महाकाव्यों में जीवन की जटिल समस्याओं का, सामाजिक विषमताओं का हल ढूँढने का निरर्थक प्रयास किया है। वास्तव में इन काव्यों की सृष्टि आदर्श के धरातल पर की गई है। संस्कृत-कवि व्यावहारिक जगत् की उलझनों से निश्चिन्त होकर सौन्दर्य सृष्टि करता है; वह अपने व्यक्तित्व से, अपने दुःख-दर्द से, अपनी वासनाओं और अतृप्तियों से अनासक्त और निर्लिप्त रहकर साहित्य और कला का सृजन करता है। कालिदास को सम्बोधित किये गए रवीन्द्रनाथ ठाकुर के निम्नलिखित शब्द संस्कृत के प्रायः सभी काव्य-स्रष्टाओं पर पूर्णतः चरितार्थ होते हैं :

"हे अमर कवि कालिदास, क्या तुम्हारे सुख-दुःख और आशा-नैराश्य के द्वन्द्व हमी लोगों की तरह नहीं थे? क्या तुम्हारे समय में राजनीतिक षड्यन्त्रों और गुप्त आघात-प्रतिघातों का चक्र हर समय नहीं चलता रहता था? क्या तुम्हें कभी हम लोगों की तरह अपमान, अनादर, अविश्वास और अन्याय सहन नहीं करना पड़ा? क्या तुम यथार्थ जीवन के क्रूर-कठोर अभाव से पीड़ित नहीं रहे? और क्या तुम्हें उस निर्मम पीड़ा के कारण निद्राहीन रातें नहीं बितानी पड़ीं?

"ऐसा सम्भव नहीं। तुम्हें भी जीवन की कठोर यथार्थता के कटु अनुभव हुए होंगे। पर यह सब होने पर भी उन सबके ऊपर तुम्हारा

सौन्दर्य-कमल आनन्द के सूर्य की ओर उन्मुख होकर निर्लिप्त, निर्मल रूप में खिला है। उसमें कहीं दुःख-दैन्य और दुर्दिन के अनुभवों का कोई चिह्न नहीं है। जीवन के मन्थन से उत्पन्न विष को तुमने स्वयं पान किया है और उस मन्थन के फलस्वरूप जो अमृत उठा उसे तुम समग्र संसार को दान कर गए हो।"

: ५ :

लघु-काव्य

गीति-काव्य

गीति-काव्य या खण्ड-काव्य महाकाव्यों से आकार-प्रकार में छोटे होते हैं और किसी एकांगी विषय का ही चित्रण करते हैं : '**खण्डकाव्यं भवेत्काव्यस्यैकदेशानुसारि च।**' फिर भी कई दृष्टि से गीति-काव्य महाकाव्यों की अपेक्षा अधिक आकर्षक और मनोरम सिद्ध होते हैं। काव्य-शास्त्र की रूढ़ियों और परम्पराओं से दूर रहकर गीति-कविता में वैयक्तिक चेतना की अभिव्यक्ति की जाती है। जब कवि का हृदय सामाजिक बन्धनों और देश-काल की संकीर्ण सीमा को छोड़ देता है और इस स्थिति में उसकी व्यक्तिगत वासना-कामना तथा आनन्द-वेदना उन्मुक्त होकर सुर के माध्यम से फूट पड़ती है, तब गीति-कविता का जन्म होता है। यदि कवि की आत्ममुग्धता के दर्शन करने हों, यदि उसके प्राणों का स्पन्दन सुनना हो तो उसकी गीति-रचनाओं का अवलोकन करना चाहिए।

गीति-काव्यों के आभ्यन्तर और बाह्य दोनों रूप एक-से सरस और अभिराम होते हैं। उनके आभ्यन्तर में जहाँ जीवन के अनुरञ्जनकारी चित्रों अथवा कवि-हृदय की मार्मिक अनुभूतियों का प्रगाढ़ अंकन रहता

है, वहाँ उनका बाह्य रूप रमणीय संगीतमय छन्दों और कमनीय शब्दावली में प्रकट होता है। निरीक्षण की नवीनता, कल्पना की चारुता, भावों की कोमलता तथा पद्यों की गेयता का सुष्ठु सामञ्जस्य संस्कृत के गीति-काव्यों की विशेषता है।

विवेचन की दृष्टि से गीति-काव्यों के तीन भेद किये जा सकते हैं—निबन्धात्मक, प्रबन्धात्मक और मुक्तक। निबन्धात्मक काव्यों में सर्ग-बद्धता होती है और प्रयेक सर्ग में विषय की एकवाक्यता रहती है। प्रबन्धात्मक काव्यों में आद्योपान्त एक ही कथानक का निर्वाह होता है। इन दोनों भेदों मे गीति तत्त्व रहते हुए भी आख्यान-तत्त्व का विशेष आग्रह पाया जाता है; अतः उन्हें विशुद्ध गीति कविता न कहकर प्रगीत-गाथा की संज्ञा भी दी जा सकती है। मुक्तक काव्यों में एक ही पद्य मे किसी रस की पूर्ण अभिव्यक्ति या विषय का सांगोपाग चित्रण रहता है; उसे समझने में पूर्वापर प्रसग या सन्दर्भ की अपेक्षा नहीं होती। निबन्धात्मक और मुक्तक काव्यों के उदाहरण क्रमशः 'ऋतु संहार' 'मेघदूत' और भर्तृहरि अथवा अमरु के शतक है।

ऋतु संहार

महाकाव्यो की भाँति गीति-काव्यों में भी महाकवि कालिदास का नाम अग्रगण्य है। उनके 'ऋतु संहार' मे छः सर्गों (१४४ पद्यों) में छहों ऋतुओं का वर्णन किया गया है। बहुत समय तक कुछ विद्वान् उसे कालिदास की रचना नहीं मानते थे, क्योंकि कालिदास की अन्य कृतियों को देखते हुए उसमे भाव-भाषा-शैली का अपेक्षाकृत कम परिष्कार है; किन्तु आधुनिक विद्वानों ने उसे कालिदास की रचना—उनका एक तरुण प्रयास—स्वीकार कर लिया है। रचना-कौशल में प्रौढ़ता न होने पर भी 'ऋतु संहार का अपना विशिष्ट स्थान है, क्योंकि संस्कृत मे ऋतु-वर्णन पर एक-मात्र यही सागोपाग ग्रन्थ उपलब्ध है। शैली और पद-विन्यास में भी वह कालिदास के ध्वनि-सौन्दर्य और संगीत-गुण को

बहुत-कुछ प्रकट करता है।

'ऋतु संहार' मे छहो ऋतुओं का वर्णनात्मक परिचय-मात्र नहीं है; वास्तव मे वह एक प्रेमी मानव के नेत्रो से दिखाई पड़ने वाले ऋतु-सौन्दर्य का स्निग्ध दृश्य उपस्थित करता है। प्रत्येक ऋतु प्रेमी-प्रेमिकाओं मे किन भावो या शृगारिक चेष्टाओं का सचार करती है, इसका सोल्लास वर्णन दर्शनीय है। ग्रीष्म ऋतु मे भीषण उष्णता से व्याकुल प्राणियो के लिए शीतल रात्रियो और कमनीय कान्ताओं के साथ सगीत की बहार के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं। वर्षा ऋतु शस्य-श्यामला वसुन्धरा को तरुणी बनाकर युवक-युवतियों को उत्कण्ठित कर देती है, जब कि शरद् ऋतु नवोढ़ा वधू के रूप में प्रकट होकर रमणी-सौन्दर्य को भी मात कर देती है। हेमन्त मे प्रेमीजन निकट शारीरिक साहचर्य के उपासक होने लगते हैं और शिशिर के आते-आते तो कन्दर्प का दर्प सीमातीत हो जाता है तथा आग, उष्ण वस्त्र एवं प्रियतमा के प्रगाढ़ आलिगन से ही वह शान्त किया जा सकता है। पर प्रेमोद्रेक का सागर तो वसन्त मे ही लहराने लगता है, जब पेड़ पुष्पों से, तालाब कमलो से, स्त्रियाँ कामना से, पवन सुगन्ध से, सन्ध्या सुखद शीतलता से, दिन रमणीयता मे—सभी कुछ वसन्त की चारुता से अधिकाधिक स्निग्ध और सुन्दर प्रतीत होने लगता है :

> द्रुमाः सपुष्पाः सलिलं सपद्मं स्त्रियः सकामाः पवनः सुगन्धिः।
> सुखाः प्रदोषा दिवसाश्च रम्याः सर्वं प्रिये चारुतर वसन्ते॥

'ऋतु संहार' मे अनुप्रासमय शब्द-विन्यास, पद्यो का प्रवाह तथा जटिलता-रहित भाषा दर्शनीय हैं, किन्तु एक-से शृंगारिक वर्णन समृद्ध कल्पना की न्यूनता सूचित करते हैं। इसके अतिरिक्त, उसमें प्रकृति के दृश्यो तथा मानवीय प्रणय-भावो मे पर्याप्त तादात्म्य भी स्थापित नहीं हो सका है।

मेघदूत

'ऋतु संहार' से कहीं अधिक यशस्वी और प्रौढ़ कृति कालिदास का 'मेघदूत' है, जिसके १२१ पद्यों में कवि ने एक यक्ष की विरह-जन्य मनो-दशा का मार्मिक चित्रण किया है। कुबेर द्वारा निर्वासित होने पर अलका-निवासी यह यक्ष अपनी प्राणवल्लभा पत्नी से बिछुड़ जाता है और रामगिरि पर्वत पर अपने वियोग के दिन काटने लगता है। वर्षा ऋतु में विरह-पीड़ित होकर वह एक मेघ द्वारा अपनी हृदयेश्वरी के पास प्रेम-सन्देश भेजता है। 'मेघदूत' के पूर्वार्ध में वह मेघ का पथ-निर्देशन करता है और उत्तरार्ध मे अपनी विरहिणी पत्नी का शब्द-चित्र खींचकर उससे अपना सन्देश कहता है। इस लघु कथानक के कलेवर मे कवि ने देश की मनोहर रूप माधुरी का, विप्रलम्भ शृंगार के करुण-कोमल भाव का, नारी-सौन्दर्य के मंजुल रूप का और हृदय की उदात्त मनोवृत्तियों का अपूर्व चित्रण किया है। अपनी सुकुमार कल्पना के अनुरूप ही कालिदास ने प्राजल एवं प्रासादिक भाषा का प्रयोग किया है। 'मेघदूत' के मेघ के समान उसके मन्दाक्रान्ता छन्द की भी गति कहीं मन्द-मन्थर है तो कहीं द्रुत और नादात्मक। 'मेघदूत' के समस्त पद्य बड़े श्रुति-मधुर, रस-पेशल तथा गेयता और रमणीयता से परिपूर्ण हैं।

कालिदास ने अचेतन मेघ से चेतन और समर्थेन्द्रिय पुरुष का काम लिया है। यह उनकी शब्द-चातुरी और मेघ-शास्त्र की अभिज्ञता का ही चमत्कार है कि पाठकों को ऐसी प्रतीति हो जाती है मानो मेघ ने यक्ष का सन्देश पहुँचाना स्वीकार कर लिया और उस यक्ष-पत्नी के सामने साक्षात् कह भी सुनाया।

'ऋतु संहार' की भाँति 'मेघदूत' का विषय भी प्रकृति और नारी का चित्रण है, किन्तु 'ऋतु संहार' में जहाँ इन दोनों के बीच केवल सामीप्य है वहाँ 'मेघदूत' में पूर्ण तादात्म्य। 'पूर्व मेघ' में बाह्य प्रकृति के चित्रण को पुरुष के नारी-विषयक कोमल भावों से घुला-मिला दिया गया है और 'उत्तर मेघ' मे मानव की उत्तप्त प्रणय-भावना को प्राकृतिक छटा

के चौखटे मे कुशलता से कसा गया है।

कालिदास की दृष्टि मे नारी और प्रकृति मूलतः एक और अभिन्न हैं। नारी पर प्रकृति का और प्रकृति पर नारी का आरोप करना उनका प्रिय विषय है। एक ओर वह विरह-विधुरा यक्ष-पत्नी को प्राची मे कृष्ण पक्ष की क्षीण चन्द्र-कला के समान,[1] अथवा पाला पड़ जाने के कारण मुरझा जाने वाली कमलिनी के समान,[2] अथवा सहचर से बिछुड़ी चकवी के समान,[3] चित्रित करते हैं तो दूसरी ओर प्रकृति की वस्तुओ मे नारी सुलभ लावण्य और उत्कण्ठा की छटा दिखलाते हैं—पके पीले आम्रवृक्षों से आम्रकूट पर्वत की चोटी पर जब काला मेघ छा जाता है तब वह पर्वत ऐसा प्रतीत होता है मानो वसुन्धरा के गौर वर्ण उन्नत उरोज के मध्य भाग मे श्याम वर्ण कुचाग्र शोभित हो रहा है ;[4] मेघ को देखकर वेत्रवती नदी मानिनी प्रेमिका की भाँति इठलाकर अपनी लहर-रूपी भौंहें तान लेती है;[5] और मेघ के चले जाने पर निर्विन्ध्या नदी विरहिणी की भाँति क्षीण धारा के रूप मे एक वेणी धारण कर लेती है।[6] प्राकृतिक दृश्यो की छटा नारी-सम्पर्क के कारण चारुतर बना दी जाती है—रामगिरि के स्वच्छ जलाशयो के साथ जनकतनया सीता के स्नान की पुण्य स्मृति जुड़ी है (**जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु**); नीचे पर्वत की उपत्यकाएँ वार-वनिताओं की क्रीड़ाओ से सुरम्य और सुवासित हैं; शीघ्रवाहिनी नदियो के तट पुष्प चुनने में व्यस्त बालाओं से सुशोभित हैं। नारी और प्रकृति की इस एकात्मता को निम्नलिखित पद्य में प्रस्तुत किया गया है :

---

१. **प्राचीमूले तनुमिव कलामात्रशेषां हिमांशो.।**
२. **जातां मन्ये शिशिरमथितां पद्मिनीं वान्यरूपाम्।**
३. **दूरीभूते मयि सहचरे चक्रवाकीमिवैकाम्।**
४. **मध्ये श्यामः स्तन इव भुवः शेषविस्तारपाण्डुः।**
५ **सभ्रूभगं मुखमिव पयो वेत्रवत्याश्चलोर्मि।**
६. **वेणीभूतप्रतनुसलिलासावतीतस्य सिन्धुः।**

श्यामास्वङ्गं चकितहरिणीप्रेक्षणे दृष्टिपातं
वक्त्रच्छायां शशिनि शिखिनां बर्हभारेषु केशान् ॥
उत्पश्यामि प्रतनुषु नदीवीचिषु भ्रूविलासान्
हन्तैकस्मिन्क्वचिदपि न ते चण्डि सादृश्यमस्ति ॥

अर्थात् मैं प्रियगु लता में तुम्हारे अंगो की, हरिणी के चञ्चल नयनो में तुम्हारी चितवन की, चन्द्रमा में तुम्हारी मुख-कान्ति की, मोर-पंखों में तुम्हारे केश-कलाप की और नदी की लोल लहरियों में तुम्हारे भ्रू-विलास की छाया अवश्य पाता हूँ, पर इनमे से कोई एक भी पूर्णतया तुम्हारे सदृश नही है।

'मेघदूत' की नायिका यो तो **'तन्वी श्यामा शिखरिदशना'** यक्ष-पत्नी है, पर मेघ के मार्ग का वर्णन करते समय कालिदास ने इन दस प्रकार की स्त्रियों के संक्षिप्त किन्तु स्पष्ट रेखा-चित्र उपस्थित कर दिए हैं—(१) अनार्य जाति की आदिवासी स्त्रियाँ (**वनचरवधूः**), जो नर्मदा के दक्षिणवर्ती वन मे रहती हैं और लता-गृहों में रमण करती हैं; (२) सिद्धों की स्त्रियाँ (**सिद्धांगनाः**), जो ऊपर आकाश मे घने कृष्ण वर्ण के मेघ को चकित नयनों से देखकर उसे हवा में उड़ती पहाड़ की चोटी समझती हैं; (३) भोली-भाली ग्राम-वधूटियाँ (**जनपदवधूः**), जो भौंहों से अठखेलियाँ करना नहीं जानती और मेघ को समृद्ध खेती का प्रवर्तक समझकर उसका नेहभरी भोली चितवन से स्वागत करती हैं; (४) प्रवास में गए हुए लोगों की विरहिणी पत्नियाँ (**पथिकवनिताः**), जो आषाढ़ के प्रथम मेघ को हवा पर सवार देखकर प्रियतम के आगमन की आशा में धैर्य धारण करती हैं; (५) फूल चुनने वाली मालिनें (**पुष्पलावी**), जिनके पसीने से तर और मुरझाते कर्णकमलों से सुशोभित मुखड़ों पर छाया करके मेघ उनका प्रीति-पात्र बनता है; (६) अविवाहित कन्याएँ, जो मन्दाकिनी के तट पर मन्दार वृक्षों की छाया मे मणियों को छिपाने और ढूँढने का खेल खेलती हैं; (७) उज्जयिनी, दशपुर और अलका-जैसी नगरियों मे निवास करने वाली पौरांगनाएँ और गौर वर्ण

सुन्दरियाँ (ललितवनिता), जो कटाक्षों से मूक सन्देश पहुँचाने में कुशल हैं और अपने 'चल-चपला से चकित चुटीले बाँके नयनों' में मेघ को उलझाने का प्रयत्न करती हैं; (८) वारांगनाएँ (पण्यस्त्री), जो पर्वतों पर नागरों के साथ विहार करती हैं; (९) प्रिय मिलन के लिए जाती हुई अभिसारिकाएँ, जिन्हें रसिक और सहृदय मेघ अपने घोर गर्जन से डराता नहीं; तथा (१०) उज्जयिनी के महाकाल-मन्दिर में नृत्य करने वाली देवदासियाँ, जो बरसात की पहली फुहार से प्रसन्न होकर अपनी भौंरों की कतार-जैसी लम्बी-तिरछी चितवनों से मेघ को कृतकृत्य करती हैं।

इन विविध प्रकार की स्त्रियों का चित्रण करते समय कालिदास ने अपने समय में प्रचलित नारी-सौन्दर्य के आदर्श का—शृंगार-प्रसाधन, आभूषण, वेश-विन्यास तथा कला-प्रेम का—भी पर्याप्त आभास करा दिया है।

'मेघदूत' काव्य में कवि ने स्थूल भोग-प्रधान जीवन और सूक्ष्म अध्यात्म-जीवन इन दोनों अभिप्रायों का साथ-साथ उल्लेख किया है। 'मेघदूत' जहाँ एक ओर शृंगार और यौवन का परिपूर्ण काव्य है, वहीं वह शिवात्मक चैतन्य की प्राप्ति का भी गूढ़ संकेत देता है। उसमें कवि ने बड़े कौशल से शिव के स्वरूप का सन्निवेश कर दिया है। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने 'मेघदूत' के अनेक उल्लेखों का उपयोग करके शिव के स्वरूप का विशदीकरण किया है तथा यौगिक प्रक्रियाओं और परिभाषाओं पर उनकी संगति बैठाई है।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर के अनुसार 'मेघदूत' में कालिदास ने यक्ष के बहाने स्वयं अपनी मनोवेदना को व्यक्त किया है, मानो वह उज्जयिनी के राजकीय बन्धनों से मुक्त होकर प्रकृति के उन्मुक्त वातावरण में निकल आने को आतुर हों। प्रेयसी-विरह की प्रत्यक्ष अनुभूति का यह विवरण कोरा कवि-कर्म नहीं है, प्रत्युत कालिदास की निजी संवेदनाओं का सहज परिपाक है।

यदि किसी काव्य का अनुकरण उसकी लोकप्रियता का सूचक है तो इस दृष्टि से 'मेघदूत' का संस्कृत-साहित्य में अनुपम स्थान है। उसके अनुकरण पर अनेक दूत-काव्यों की रचना हुई। 'घटकर्पर' काव्य मे इसी नाम के कवि ने यमकालंकारों का आश्रय लेकर 'मेघदूत' का कथानक उलटकर प्रयुक्त किया है। इसमे एक विरहिणी पत्नी अपने दूरस्थ पति के पास प्रणय-सन्देश भेजती है। 'पवनदूत', हंसदूत', 'नेमिदूत', 'उद्धवदूत', 'भ्रमरदूत'-जैसे गीति-काव्यों मे इसी सन्देश-परम्परा का निर्वाह किया गया है, पर 'मेघदूत'-जैसी लोकप्रियता फिर किसी को नहीं प्राप्त हुई।

भर्तृहरि

मुक्तक पद्यो के तीन सुन्दर संकलन भर्तृहरि (६०० ई०) के शतक-त्रय—'नीतिशतक' 'शृंगारशतक' और 'वैराग्यशतक' हैं। 'नीतिशतक' में कवि ने परोपकारिता, वीरता, साहस, उद्योग, उदारता-जैसी उदात्त मनोवृत्तियों का सरस पद्यों में आग्रह किया है। 'जो व्यक्ति दुर्लभ मनुष्य देह पाकर भी सद्गुणों का संचय नहीं करता, वह उस मूर्ख के समान उपहासास्पद है जो वैदूर्य-मणि के बने हुए पात्र में चन्दन की लकड़ी से लहसुन पकाता है अथवा जो सोने के हल से अर्क की जड़ पाने के लिए जमीन जोतता है।' 'स्वजनो के प्रति उदारता, पराये लोगों के प्रति दया, दुष्टों के प्रति शठता, सज्जनो के प्रति प्रेम, नीचों के प्रति औद्धत्य, विद्वानों के प्रति सरलता, शत्रुओं के प्रति वीरता, गुरुजनो के प्रति क्षमा, स्त्रियों के प्रति धूर्तता—जो पुरुष इन कलाओ में कुशल हैं वे ही संसार में निभ सकते हैं।' परोपकार की भावना सन्तो मे स्वाभाविक होती है, इसका चित्रण देखिए :

पद्माकरं दिनकरो विकचं करोति
चन्द्रो विकासयति कैरवचक्रवालम् ।

नाभ्यर्थितो जलधरोऽपि जलं ददाति
सन्तः स्वयं परहितेषु कृताभियोगाः ॥

'सूर्य स्वेच्छा से ही कमल को खिला देता है; चन्द्रमा कुमुदों के समूह को बिना कहे ही विकसित कर देता है; मेघ प्रार्थना न किये जाने पर भी वर्षा कर देता है; सच है, सन्त परोपकार में स्वयमेव दत्तचित्त रहते हैं।' किन्तु 'नीतिशतक' में केवल नैतिक आदर्शों का प्रतिपादन नहीं है, उसमें इस संसार की निष्ठुरता और हृदयहीनता के प्रति स्पष्ट विद्रोह की भावना भी मुखर है :

बोद्धारो मत्सरग्रस्ताः प्रभवः स्मयदूषिताः ।
अबोधोपहताश्चान्ये जीर्णमंगे सुभाषितम् ॥

'जिनमें समझने की शक्ति है वे ईर्ष्या-द्वेष से ग्रस्त हैं, जिनमें प्रभुता या अधिकार केन्द्रित है वे अहंकार से अभिभूत हैं, शेष सब अज्ञान में लिपटे पड़े हैं तभी तो मेरी सारी उपदेशपूर्ण सूक्तियाँ मेरे अन्दर ही जीर्ण हुई जा रही हैं।' राजाओं का औद्धत्य, धन का मद, दासता का अपमान, शिक्षा और शिष्टता से दम्भ और अभिमान का संघर्ष, दुष्टों और मूर्खों के हाथों सज्जनों और विद्वानों का मखौल—ये बातें कवि के हृदय में शूल की तरह चुभती हैं।

'शृंगारशतक' में सम्मोहक पद्यावली में रमणियों के दुर्निवार आकर्षणों का चित्र खींचा गया है

कुर्वन्ति कस्य न मनो विवशं तरुण्यो
वित्रस्तमुग्धहरिणीसदृशाक्षिपातैः ?

भयभीत हरिणी के-से भोले कटाक्षों से ये तरुणियाँ किसके मन को मोहित नहीं कर देतीं ? कामिनियों के दुर्गम कुच-पर्वतों की ओट में कामदेव नामक एक लुटेरा बटमार छिपा रहता है, जो मन-रूपी पथिक को लूट लेता है। मतवाले हाथियों और खूँखार शेरों का वध करने वाले शूरवीर पुरुषों की कमी नहीं, किन्तु कन्दर्प का गर्व चूर कर देने वाले मनुष्य विरले ही मिलेंगे :

कन्दर्पदर्पदलने विरला मनुष्याः ।

पर सच पूछा जाय तो 'शृंगारशतक' में स्त्रियों के आकर्षण की अपेक्षा उनके प्रेम की निस्सारता और दुःखद परिणति का ही बोध कराया गया है। उसमें एक ऐसे व्यक्ति का मानस चित्रित है जो 'पर्वतों की गुफा अथवा विलासिनियों के नितम्ब, गंगा के पावन तट अथवा मनोहर युवतियों के आलिंगन, शान्त-एकान्त वन या सुन्दरियों के यौवन' इन दो विकल्पों के बीच अनिश्चय के कारण भटक रहा है। भर्तृहरि की दृष्टि में नारी सुख और दुःख, आकर्षण और विकर्षण दोनों का ही चिरन्तन स्रोत है। इसलिए कवि अतिप्रणय से अप्रणय की ओर बढ़ता हुआ अन्त में वैराग्य की ओर उन्मुख हो जाता है।

'वैराग्यशतक' में एक ऐसे आदर्शवादी का दुःख-दैन्य अंकित है, जो 'इस संसार की जरा-व्याधि से, आय-व्यय की चिन्ताओं से और आत्म-सम्मान को निरन्तर पहुँचने वाली चोटों से त्रस्त है तथा जो उदासीनता और वैराग्य में ही शान्ति एवं सन्तोष का स्वप्न देखता है।' वह चाहता है कि सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ में मेरी समदृष्टि हो, चाहे वह सर्प हो अथवा मोतियों का हार, प्रबल शत्रु हो अथवा मित्र, मणि हो या मिट्टी का ढेला, पुष्पों की शय्या हो अथवा पत्थर, तिनका हो अथवा सुन्दरियों का समूह।' सांसारिक विषयों का आकर्षण उनकी निस्सारता से भग्न हो जाता है। इसका वर्णन देखिए :

भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ता-
स्तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः ।
कालो न यातो वयमेव याता-
स्तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः ॥

अर्थात् भोगों का उपभोग न होकर स्वयं हमारा ही शोषण हो गया; तपस्या करने के स्थान पर हम ही दुःख-शोक से तप गए; समय क्या बीता, हम ही समाप्त हो चले; और तृष्णा के जीर्ण होने के बजाय हम ही जीर्ण-शीर्ण हो गए।

इन तीनों शतकों में एक-सी प्रांजल शैली और सुन्दर पद-लालित्य के दर्शन होते हैं। काव्य-प्रतिभा का भी उनमें चारु निदर्शन है। उदाहरणों की अनुरूपता और सूक्तियों की कमनीयता के कारण भर्तृहरि के शतकों की लोक में बड़ी प्रसिद्धि है।

अमरु-शतक

प्रणय भावों का अत्यन्त मनोरम चित्रण महाकवि अमरु (७००ई०) के शतक में पाया जाता है। यह प्रणय जीवन-संग्राम में जूझने वाले पुरुषों और नारियों के बीच स्थापित होने वाला प्रौढ़ प्रेम नहीं है, अपितु शृंगार की ललित लीला-भंगियों में लवलीन युवा कामी-कामिनी की वह उद्दाम वासना है, जो कभी हर्ष और विषाद का; तो कभी कोप और अनुराग का रूप धारण कर लेती है। अमरु के मुक्तक पद्य संस्कृत भाषा की अर्थ-गरिमा के अनूठे उदाहरण हैं। आनन्दवर्धनाचार्य ने उनको 'प्रबन्धायमान' कहा है; अर्थात् रस, भाव और अर्थ का जितना सन्निवेश एक पूरे पद्य में किया जा सकता है, उतना अमरु के एक-एक पद्य में दिखाई पड़ता है। शब्द-चित्र खींचने में अमरु सिद्धहस्त हैं। एक ही पद्य में किसी समूचे दृश्य या भाव का चित्रण होने पर भी उसमें दुरूहता या अस्पष्टता नहीं आने पाती। छन्दों की विविधता सारे शतक में नवीनता बनाये रखती है। प्रांजल भाषा तथा प्रसन्न-मधुर शैली में संयोग और विप्रलम्भ शृंगार का मार्मिक चित्रण किया गया है। भाव-सौकुमार्य का हृदयस्पर्शी अंकन पद-पद पर दर्शनीय है। एक मुग्धा नायिका को परामर्श देते हुए जब उसकी सखी कहती है—"प्रियतम के सामने क्या तुम सदा इसी तरह भोली बनी रहोगी? जरा नाज-नखरे दिखाया करो, कुछ मान दरशाओ, कुछ धीरज रखो, प्रिय के सम्मुख भोलेपन को न आने दिया करो," तब सखी की इस सलाह पर नायिका डरती-डरती कहती है—"जरा धीरे बोलो, नहीं तो कहीं मेरे हृदय में बैठे हुए प्रियतम सुन लेंगे।" प्रश्नोत्तर-शैली में किस चमत्कारी ढंग से

नायिका का विषाद प्रकट किया गया है, इसका एक उदाहरण देखिए। नायक-नायिका का संवाद हो रहा है :

बाले नाथ विमुञ्च मानिनि रुषं रोषान्मया किं कृतम्
खेदोऽस्मासु न मेऽपराध्यति भवान् सर्वेऽपराधा मयि।
तत्किं रोदिषि गद्गदेन वचसा कस्याग्रतो रुद्यते
नन्वेतन्मम का तवास्मि दयिता नास्मीत्यतो रुद्यते॥

"प्रिये !" "नाथ !" "मानिनि, अपना क्रोध छोड़ो !" "क्रोध करके मैंने कर ही क्या लिया !" "मेरे हृदय में उदासी जो छा दी।" "इसमें आपका कोई अपराध नहीं, सारे अपराध मेरे अपने ही हैं।" "तब फिर इस तरह सिसक-सिसक कर रो क्यों रही हो ?" "किसके सामने रो रही हूँ ?" "क्यों, मेरे सामने ही तो रो रही हो।" "मैं आपकी कौन ?" "प्रियतमा !" "यही तो मैं नहीं हूँ, इसीलिए रो रही हूँ।"

बिल्हण

'विक्रमांकदेवचरित' के रचयिता बिल्हण (१०५० ई०) के नाम से ५० पद्यों की एक लघु गीति-कृति 'चौरपञ्चाशिका' मिलती है, जिसमें कवि एक राजकुमारी के साथ अपनी गुप्त प्रणय लीला का उत्तप्त वर्णन करता है। इसका प्रत्येक पद्य 'अद्यापि' (अब भी) से प्रारम्भ होता है और उसमें कवि बताता है कि अब भी (जब कि अपने प्रणय के कारण उसे प्राण-दण्ड मिलने वाला है), उसे अपनी प्रियतमा के दर्शन-स्पर्शन की रोमांचकारी स्मृति बनी हुई है।

गोवर्धनाचार्य

बंगाल के राजा लक्ष्मणसेन (१११६ ई०) के सभा-पंडित गोवर्धनाचार्य की 'आर्या-सप्तशती' हाल-कृत प्राकृत 'गाथा-सप्तशती' के अनुकरण पर रची गई है। इसमें ७०० आर्या छन्दों में प्रेमी-प्रेमिकाओं की

संयोग-वियोग की दशाओं का मंजुल एवं मार्मिक चित्र उपस्थित किया गया है। इसकी नायिकाएँ नगरों की पटु रमणियाँ और गाँवों की मुग्धा ललनाएँ दोनों ही हैं। कवि ने उपमा, रूपक, दृष्टान्त आदि सादृश्य-मूलक अलंकारों का आश्रय लेकर अन्योक्तियों के रूप में अनुराग और विराग की अभिव्यंजना की है। एक उदाहरण देखिए :

सा सर्वथैव रक्ता राग गुञ्जेव न तु मुखे वहति ।
वचनपटोस्तव रागः केवलमास्ये शुकस्येव ॥

अर्थात् तुम्हारी प्रेमिका तुम्हारे प्रति पूर्णतया अनुरक्त होने पर भी अपने अनुराग को मुख से प्रकट नहीं करती, जबकि तुम वचन-चातुरी में दक्ष हो और अपने शब्दों से ही उसके प्रति प्रेम का प्रदर्शन करते हो। इसीलिए वह उस लाल गुञ्जाफल के समान है जो मुख के सिवाय सर्वांग में रक्तवर्ण है और तुम उस हरे शुक के समान हो जिसका केवल मुँह लाल होता है।

जयदेव

गोवर्धनाचार्य के ही समकालीन जयदेव ने 'गीतगोविन्द' नामक एक अद्भुत माधुर्यपूर्ण काव्य की रचना की। इसमें राधा और कृष्ण के प्रणय की विविध दशाओं का—आशा, निराशा, उत्कण्ठा, ईर्ष्या, कोप, मान और मिलन [illegible] है। संस्कृत-काव्य में राधा की प्रतिष्ठा करने का प्रथम श्रेय जयदेव को ही प्राप्त है। श्लोक, गद्य और गीत की मिली-जुली अभिनव शैली का सूत्रपात करके उन्होंने राधा-कृष्ण की जीवन-घटनाओं को शृंगार की एक नई तन्मयता से रस-सिक्त कर दिया है। 'गीतगोविन्द' को किसी ने ग्राम्यरूपक, किसी ने गीति-नाट्य तो किसी ने संगीत-रूपक कहा है। पिशेल और लेवी के अनुसार जयदेव की रचना गीति-काव्य और नाटक के बीच की चीज है। 'गीतगोविन्द' की सर्वाधिक विशेषता उसकी कोमल-कान्त पदावली और उसके ललित, अनुप्रासमय छन्द हैं। सौन्दर्य और माधुर्य से पगी हुई

ऐसी रचना विश्व साहित्य मे दुलभ है उसम एक अद्भुत प्रवाह है, विलक्षण शब्द-सौष्ठव है। शृंगार-रस की अभिव्यंजना के लिए जैसी भाषा उसमें प्रयुक्त हुई है, वह पाठ-मात्र से सहृदय श्रोता के हृदय में तदनुरूप भाव का संचार कर देती है। उसकी रमणीय शैली के प्रवाह में प्रेम की मृदु-मधुर भावनाएँ कल्लोल करती हुई प्रतीत होती हैं। कृष्ण और राधिका की केलि-कथाओं और अभिसार-लीलाओं का शब्द और अर्थ के सामंजस्य से ऐसा मनोमुग्धकारी चित्रण किया गया है कि संस्कृत से अपरिचित व्यक्ति भी उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। समास-संकुल और समास-रहित पदावली के सम्मिश्रण का एक प्रासादिक गीत देखिए, जिसमे राधा की सखी उसे कृष्ण के समीप जाने की प्रेरणा दे रही है :

रतिसुखसारे गतमभिसारे मदनमनोहरवेशम् ।
न कुरु नितम्बिनि गमनविलम्बमनुसर त हृदयेशम् ॥
धीरसमीरे यमुनातीरे वसति वने वनमाली ।
गोपीपीनपयोधरमर्दनचञ्चलकरयुगशाली ॥
मुखरमधीरं त्यज मंजीरं रिपुमिव केलिसुलोलम् ।
चल सखि कुंज सतिमिरपुञ्ज शिथिलय नीलनिचोलम् ॥

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने, जिन्होने समस्त 'गीतगोविन्द' का तदनुरूप सरस पदावली मे अनुवाद किया है, उक्त पद का इस प्रकार रूपान्तर किया है :

बिलम मत करु पिय सो मिलु प्यारी।
बैठे कुञ्ज अकेले तुव हित मदन-मथन गिरिधारी ॥
धीर समीर घाट जमुना-तट बन राजत बनमाली ।
कठिन पीन कुच परसन चंचल कर जुग सोभा-साली ॥
चंचल मुखर नूपुरहि तजि मुख अंचल ओट दुराई ।
तिमिर-पुञ्ज चल कुञ्ज सखी मिलि हियरो लै न सिराई ॥

'मेघदूत' की भाँति 'गीतगोविन्द' की रचना भी बड़ी लोकप्रिय

सिद्ध हुई। उस पर लगभग ३५ टीकाएँ लिखी गईं तथा उसके अनुकरण पर 'अभिनवगीतगोविन्द', 'गीतराघव', 'कृष्णगीता'-जैसे अनेक गीति-काव्यों की रचना हुई।

पण्डितराज जगन्नाथ

जयदेव के पश्चात् गीतिकाव्यकारों में पण्डितराज जगन्नाथ का उल्लेखनीय स्थान है। उनकी प्रसिद्धि मुगल-सम्राट् शाहजहाँ (१६५०-८० ई०) के शासन-काल में हुई थी। उन्होंने अनेक गीति-काव्यों तथा अलंकार-ग्रन्थों की रचना की। उनके पद्यों का काव्य-माधुर्य और सरस पद विन्यास इस बात का सूचक है कि संस्कृत के ह्रास के युग में भी कवि-प्रतिभा सर्वथा विलुप्त नहीं हो गई थी। प्राजल शैली और नूतन कल्पना की दृष्टि से पण्डितराज के गीत संस्कृत के सुप्रसिद्ध गीति-काव्यों से किसी मात्रा में घटकर नहीं हैं। 'भामिनीविलास' में उनकी अन्योक्तियाँ तथा शृंगार, करुण और शान्त रस-विषयक मुक्तक पद्य संकलित हैं।

पण्डितराज की एक अनूठी अन्योक्ति का अवलोकन कीजिए, जिसमें किसी शूरवीर से सत्पुरुष पर क्रोध न करने की अप्रत्यक्ष प्रार्थना की गई है :

पिब स्तन्यं पोत त्वमिह मददन्तावलधिया
दृगन्तानाधत्से किमिति हरिदन्तेषु परुषान्।
त्रयाणां लोकानामपि हृदयतापं परिहरन्
अयं धीरं धीरं ध्वनति नवनीलो जलधरः॥

अर्थात् हे सिंह-शावक, माँ का दूध पीना छोड़कर तुम क्यों इस तरह आँखों के कोनों से इधर-उधर कठोरतापूर्वक देख रहे हो? जान पड़ता है, तुम्हें किसी मतवाले हाथी की चिंघाड़ सुनने का भ्रम हो गया है। पर ऐसा नहीं है, तुम निश्चिन्ततापूर्वक स्तन-पान किये जाओ; क्योंकि जिसे तुम उन्मत्त हाथी समझ रहे हो वह तो नीले वर्ण का नया बादल है, जो धीर-गम्भीर ध्वनि करते हुए तीनों लोकों के हृदय ताप का हरण कर रहा है।

स्तोत्र-काव्य

किसी देवता-विशेष की स्तुति में रचे गए लघु-काव्यों को स्तोत्र की संज्ञा दी जाती है। संस्कृत का स्तोत्र-साहित्य भी बड़ा विशाल है। शायद ही कोई कवि ऐसा हो, जिसने अपने इष्टदेव की स्तुति में न्यूनाधिक पद्यों की रचना न की हो। पुराणों, तन्त्रों और महाकाव्यों में विशिष्ट देवों के सम्मान में स्तुतिपरक पद्यों के समूह पाये जाते हैं। इनके अतिरिक्त स्वतन्त्र स्तोत्रों की संख्या भी काफी है, जिनमें भक्ति-रस और काव्योचित सरसता का मनोहर समन्वय पाया जाता है। गीति-काव्यों की भाँति उनमें भी गेयता, स्वर-माधुर्य और तन्मयता के अभिराम दर्शन होते हैं। ये स्तोत्र प्रायः मुक्तक शैली में ही रचित होते हैं। विष्णु, शिव, दुर्गा, राम, कृष्ण, सूर्य आदि के सहस्र नामों के संकलनात्मक स्तोत्र अथवा उनकी स्तुति में १०० पद्यों के शतक-स्तोत्र आज भी पर्याप्त प्रचलित हैं। देव-स्तुति के अतिरिक्त भक्ति, ज्ञान और वैराग्य पर भी स्तोत्र रचे गए।

प्रारम्भिक स्तोत्र-काव्यों में सातवीं शताब्दी के बाण-कृत 'चण्डी-शतक' तथा मयूर-कृत 'सूर्यशतक' उल्लेखनीय हैं। अनुप्रासमय शब्दों की झंकार, दीर्घकाय समास, क्लिष्ट-श्लिष्ट प्रयोग तथा जटिल वाक्य-रचना के कारण इन दोनों स्तोत्रों में प्रासादिकता की कमी है। रत्नाकर की 'वक्रोक्ति-पञ्चाशिका' में गूढ उक्तियों का आश्रय लेकर शिव-पार्वती के बीच मनोरंजक संवाद कराया गया है। अद्वैत वेदान्त के प्रवर्त्तक भगवान् शंकराचार्य ने 'शिवापराधक्षमापणस्तोत्र', 'द्वादशपञ्जरिका' ('भज गोविन्दम्' अथवा 'मोहमुद्गर') स्तोत्र, 'देव्यापराधक्षमापणस्तोत्र', 'आनन्दलहरी', 'भवान्यष्टक' आदि अनेक स्तोत्रों की रचना की। सुललित पदावली, रुचिर भक्ति एवं तीव्र वैराग्य-भावना से ओत-प्रोत ये स्तोत्र संस्कृत-स्तोत्र-साहित्य की अमूल्य निधि हैं। पज्झटिका छन्द में रचित उनके 'भज गोविन्दम् स्तोत्र' में ऐसी लय, गीत और ताल है कि उसको पढ़ने से ही संगीत का आनन्द आता है :

पुनरपि जननं पुनरपि मरणं
पुनरपि जननीजठरेशयनम् ।
इह संसारे खलु दुस्तारे
कृपया पारे पाहि मुरारे ।।

अर्थात् 'हे मुरारि, कितनी बार जन्म लूँ, फिर मृत्यु का ग्रास बनकर कितनी बार भिन्न-भिन्न माताओं के गर्भ में वास करूँ, इसका मुझे पार नहीं दिखाई दे रहा है। मुझे इस अगाध संसार-सागर में डूबने से बचाओ!' देवी के प्रति भक्ति और आत्म-समर्पण का एक मार्मिक उद्गार देखिए :

पृथिव्यां पुत्रास्ते जननि बहव सन्ति सरलाः
परं तेषां मध्ये विरलतरलोऽहं तव सुतः ।
मदीयोऽयं त्यागः समुचितमिदं नो तव शिवे
कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति ।।

अर्थात् 'हे माता, पृथ्वी पर तुम्हारे अनेकानेक अच्छे पुत्र हैं, उनमें मैं ही एक ऐसा हूँ जो चंचल और अयोग्य है; फिर भी हे कल्याणी, मेरा त्याग कर देना तुम्हारे लिए शोभनीय नहीं होगा; पुत्र भले ही कपूत निकल जाय, किन्तु माता कभी कुमाता नहीं होती।'

अन्य स्तोत्रों में उल्लेख-योग्य अज्ञात कृतित्व के 'अम्बाष्टक' और 'पंचस्तवी', कामाक्षी देवी की स्तुति में कांची के मूक कवि-रचित 'पंच-शती', आनन्दवर्धन (८५० ई०)-कृत 'देवीशतक', उत्पलदेव (९२५ ई०) की 'स्तोत्रावली', दुर्वासा-कृत 'ललितस्तवरत्नम्', वैष्णव कुलशेखर-रचित 'मुकुन्दमाला' आदि हैं। चैतन्य, मध्व, वेदान्तदेशिक आदि सुप्रसिद्ध दार्शनिकों ने भी सुन्दर स्तोत्रों की रचना की। पुष्पदन्त-रचित 'महिम्नस्तोत्र' का शिव-भक्तों में आज भी काफी प्रचार है। ग्यारहवीं शताब्दी के लीलाशुक-रचित 'कृष्णकर्णामृत' में भगवान् कृष्ण की लीलाओं का मधुर गान किया गया है, जिसके प्रत्येक पद्य में भक्ति का प्रवाह बहता प्रतीत होता है। यमुना की तरंगों पर अठखेलियाँ करती

हुई चाँदनी, प्रणय-रुचिर रात्रियों, कृष्ण के लिए व्याकुल गोपियों आदि का उसमे हृदयग्राही चित्रण है। पण्डितराज जगन्नाथ के 'गंगालहरी' तथा 'पीयूषलहरी' स्तोत्र भी पर्याप्त मनोहर बन पड़े है।

सुभाषित-संग्रह

सुभाषित-संग्रहो मे सुप्रसिद्ध कवियो की स्फुट रचनाओ के अतिरिक्त अनेक अज्ञात कवियो के सुन्दर पद्य संकलित हैं। प्राचीनतम संग्रह १२वीं शताब्दी का 'कवीन्द्ररससमुच्चय' है, जिसमें विभिन्न विषयो पर ५२५ पद्य संगृहीत हैं। श्रीधरदास के 'सदुक्तिकर्णामृत' (१२०५ ई०) मे ४४६ कवियो की, जिनमें अधिकतर बंगाल के हैं, प्रकीर्ण रचनाएँ पाई जाती हैं। इसी शताब्दी के जल्हण कवि की 'सुभाषित मुक्तावली' मे दैव, औदार्य, धन, सेवा, प्रेम, दु:ख आदि पर विषयवार चुने हुए पद्य दिये गए हैं, जिनसे कई कवियो के काल-निर्णय मे सहायता मिलती है। 'शार्ङ्गधरपद्धति' (१३-६३ ई०) मे ४६८६ तथा वल्लभदेव की 'सुभाषितावली' (१५०० ई०) में ३५२७ पद्य हैं। रूप गोस्वामी की 'पद्यावली' (१४६० ई०) में कृष्ण विषयक पद्य एकत्र किये गए हैं। निर्णयसागर प्रेस से प्रकाशित 'सुभाषित रत्नभण्डागार' एक सुसम्पादित सुभाषित सग्रह है, जिसमे प्राय: सभी प्रचलित सुभाषित (यथासम्भव मूल स्रोतो के सकेत-सहित आ गए हैं। इन सुभाषित-संग्रहो मे एक-से-एक सुन्दर गीतात्मक और मुक्तक पद्य भरे हैं। कहीं-कहीं हास्य और व्यंग्य का भी पुट देखने को मिलता है। अज्ञात कृतित्व के दो रोचक पद्य देखिए। एक मणि के सौभाग्य का क्या ही मजेदार वर्णन है :

> **आघ्रातं परिलीढमुग्रनखरैः क्षुण्णं च यच्चर्वितम्**
> **क्षिप्तं यद्भुवि नीरसत्वकुपितेनेति व्यथां मा कृथाः।**
> **हे माणिक्य तवैतदेवकुशलं यद्वानरेणाग्रहा-**
> **दन्तःसत्वनिरूपणाय सहसा चूर्णीकृतं नाश्मना ॥**

अर्थात् 'हे माणिक्य, तुम इसके लिए खेद मत करो कि तुम सूँघे

गए, चबाये गए और फिर स्वादहीन होने से उगल दिए गए। अपनी खैरियत मनाओ कि तुम्हारे पेट में क्या है, यह देखने के लिए तुम चूर्ण-विचूर्ण नहीं कर दिए गए। भाई क्या यह नहीं जानते कि तुम अभी एक बंदर के हाथ में पड़ गए थे?' कवियों पर कैसी फबती कसी गई है :

> **काव्यं करोषि किमु ते सुहृदो न सन्ति**
> **ये त्वामुदीर्णपवनं न निवारयन्ति।**
> **गव्यं घृतं पिब निवातगृहं प्रविश्य**
> **वाताधिका हि पुरुषाः कवयो भवन्ति॥**

अर्थात् 'आप कवि हैं, कविता करते हैं? क्या आपके कोई बन्धु-बान्धव नहीं, जो आपको इस रोग से बचाएँ। अरे भाई, जिस घर में वायु न हो उसमें बैठकर गाय का घी पी लो, जिससे तुम्हें शान्ति मिले। जिन लोगों में वात की अधिकता होती है वे ही कवि होते हैं।'

नीति-काव्य

संस्कृत के सभी इतिहास-पुराणों में चुभती हुई और मुहावरेदार ढंग से कही हुई संक्षिप्त नीति-विषयक सूक्तियाँ अथवा लोकोक्तियाँ बिखरी पड़ी हैं, जिनमें जीवन-विषयक अनुभव मार्मिक रूप से व्यक्त किये गए हैं। 'ऐतरेय ब्राह्मण', उपनिषद्, सूत्रग्रन्थ और 'महाभारत' इस दृष्टि से विशेष समृद्ध हैं। इनमें दर्शन, नीति, व्यावहारिक जीवन, राजनीति, युद्ध-सचालन आदि विषयों तक की शाश्वत महत्त्व की बातें सूत्र-रूप में बता दी जाती हैं। बाद में जाकर इस प्रकार की सूक्तियों के कई काव्य-ग्रंथ और संग्रह-ग्रंथ बन गए, जिनमें से अनेक चन्द्रगुप्त मौर्य के मन्त्री चाणक्य के नाम से प्रचारित हुए। 'चाणक्य-नीति', 'चाणक्य-शतक', 'चाणक्य-नीति-दर्पण', 'चाणक्य-राजनीति', 'वृद्ध चाणक्य' और 'लघु चाणक्य' पुस्तकों के अनेक संस्करण पाये जाते हैं और यह निर्विवाद नहीं कि उनकी रचना स्वयं चाणक्य ने की थी। उनमें कुशलता और अनुभवजन्य बुद्धिमत्ता से कही गई जीवन की सार-रूप उपयोगी

बातें कुशलता और अनुभवजन्य बुद्धिमत्ता से कही गई हैं, जो देश-काल की सीमा से परे आज भी सार्वत्रिक महत्त्व की हैं और किसी भी समाज या गोष्ठी में उद्धृत की जा सकती हैं। 'अच्छी पत्नी वह है जो पवित्र और कार्यपटु है, जो पतिव्रता है, जो पति की प्रियतमा और सत्यवादिनी है।' 'संसार में तीन बातें केवल एक बार होती हैं—राजा लोग केवल एक बार आदेश देते हैं, पण्डितजन केवल एक बार बोलते हैं और कन्या केवल एक बार विवाह में दी जाती है।' 'दीर्घायु चाहने वाले व्यक्ति को इन छः वस्तुओं का परित्याग कर देना चाहिए—सूखा माँस, वृद्ध स्त्रियाँ, सवेरे का सूर्य, तुरन्त जमाया हुआ दही तथा प्रातःकाल में मैथुन और निद्रा।' संसार में ज्यादा सीधा होना भी अच्छा नहीं; यदि आप नहीं मानते तो जंगल में जाकर देखिए, वहाँ सीधे खड़े रहने वाले वृक्ष ही कटे-गिरे मिलेंगे, टेढ़े-मेढ़े पेड़ नहीं :

नात्यन्तसरलैर्भाव्यं गत्वा पश्य वनस्थलीम् ।

छिद्यन्ते सरलास्तत्र कुब्जास्तिष्ठन्ति पादपाः ॥

वररुचि, घटकर्पर और बेतालभट्ट के नाम से क्रमशः 'नीतिरत्न', 'नीतिसार' और 'नीतिप्रदीप' नामक कृतियाँ मिलती हैं। भर्तृहरि का 'नीतिशतक' भी इसी श्रेणी में आता है। भल्लट (९०० ई०) और शिल्हण नामक कश्मीरी कवियों ने भी दो शतकों की रचना की। शम्भु के 'अन्योक्तिमुक्तालताशतक' और 'राजेन्द्रकर्णपूर' ११०० ई० की रचनाएँ हैं। कुसुमदेव के 'दृष्टान्तशतक' में प्रत्येक सूक्ति को दृष्टान्त देकर विशद किया गया है :

उत्तमः क्लेशविक्षोभ क्षमः साधुं न हीतरः ।

मणिरेव महाशाणघर्षणं न तु मृत्कणः ॥

अर्थात् 'उत्तम पुरुष ही क्लेश सहन करने में समर्थ हो सकते हैं, दूसरे नहीं; जैसे मणि ही टाँकी की चोट सहन कर सकती है, मिट्टी का ढेला नहीं।'

दार्शनिक विषयों पर भी नीति-काव्यों की रचना की गई। शंकरा-

चार्य की 'शतश्लोकी' मे वेदान्त के सिद्धान्तो का काव्यमय विवेचन है। अज्ञात कृतित्व और समय के 'शृंगार ज्ञान निर्णय' में ३२ श्लोको मे रम्भा और शुक क्रमशः प्रेम और ज्ञान का पक्ष लेकर वाद-विवाद करते हैं।

संस्कृत मे कुछ वेश्या-विषयक नीति-काव्य भी मिलते हैं। काश्मीर के राजा जयापीड (७७९-८१३ ई०) के मन्त्री दामोदर गुप्त के 'कुट्टनीमत' मे एक वृद्धा वेश्या अपने अनुभवो के आधार पर एक युवती को परामर्श देती है कि वह किस प्रकार खुशामद करके और प्रेम का ढोंग रचकर बहुत-सा धन बटोर सकती है। इसीसे प्रेरित होकर क्षेमेन्द्र ने 'समयमातृका' की रचना की, जिसमे कलावती नामक एक अनुभवी वेश्या द्वारा प्रशिक्षित होकर एक युवती एक मूर्ख युवक और उसके पिता को चकमा देकर अपना उल्लू सीधा करती है। उक्त दोनों ग्रन्थो की प्रतिक्रिया-स्वरूप नल्हण ने 'मुग्धोपदेश' काव्य लिखा, जिसमे ६६ पद्यों में वेश्याओं के चगुल से बचने के तरीके बताये गए हैं।

: ६ :

नाटक

सस्कृत-साहित्य मे नाटक को काव्य की ही एक सरस शाखा माना जाता है, जैसा कि उसकी 'दृश्य-काव्य' सज्ञा से विदित होता है। नाटक के मुख्य चार तत्त्व होते हैं—संवाद, गीत, अभिनय और रस। यद्यपि इन चारों तत्त्वों से युक्त कोई सम्पूर्ण नाटक वैदिक युग में नहीं पाया जाता, तथापि ये सभी तत्त्व वेदों में मौजूद थे। 'ऋग्वेद' में ऐसे अनेक सूक्त हैं, जिनमें दो व्यक्तियों के बीच कथोपकथन या संवाद हुआ है। 'सामवेद' में संगीत-तत्त्व प्रचुर मात्रा में मिलता है। 'यजुर्वेद' के कर्म-काण्डों में नाटकीय अर्थात् अभिनय तत्त्व विद्यमान है। 'अथर्ववेद' मे वीर और श्रृंगार-रसों का पर्याप्त वर्णन हुआ है। इन्ही चारों वैदिक तत्त्वों को लेकर कर्मकाण्ड के भीतर और बाहर नाटक का बीज प्रादुर्भूत होकर विकसित होता गया। इस विकास-काल मे जिन बाह्य प्रभावों एवं परिस्थितियों ने उसे दिशा प्रदान की, उनके विषय में आधुनिक विद्वानों ने अनेक मत-मतान्तर स्थापित किये हैं। वीर-पूजा, प्राकृतिक परिवर्तनों का मूर्त्त चित्रण, पुत्तलिका-नृत्य, छाया-नाटक, नृत्य-उत्सव, यात्राएँ आदि विषयों से इन विद्वानों ने संस्कृत-नाटकों को सम्बद्ध माना है, पर

उनमे मतैक्य नहीं है। किसी समय संस्कृत-नाटकों को यूनानी नाटकों से प्रभावित माना जाता था, किन्तु आज यह मत सर्वथा अमान्य हो चुका है।

उत्तर वैदिक-काल मे नाटकों का रूप विकसित होने लगा। 'वाजसनेयी संहिता' में 'शैलूष' अर्थात् अभिनेता शब्द का प्रयोग मिलता है। 'रामायण' में 'नट', 'नर्तक', 'कुशीलव', 'रंग' (रंगमंच) आदि शब्द पाये जाते हैं। 'महाभारत' के राजा विराट के राजमहल में एक रंगशाला थी। पाणिनि ने नटसूत्रों का उल्लेख किया है, जिनमें सम्भवतः नाट्य-शास्त्र-सम्बन्धी तत्वों की चर्चा रही होगी। इनके कर्त्ता कोई शिलालिन् और कृशाश्व थे। पतंजलि ने 'कंसवध' और 'बलिबन्ध' नाम के दो नाटकों का वर्णन किया है, जो आज उपलब्ध नहीं होते। इसी समय के लगभग सर्वांगपूर्ण नाट्यशालाएँ भी बनने लगी थीं। छोटा नागपुर की पहाड़ियों मे सीताबेंगा की गुफा मे द्वितीय या तृतीय शताब्दी ई० पू० की एक नाट्यशाला मिली है, जो 'नाट्य-शास्त्र' के वर्णन से मेल खाती है। कालिदास के पूर्ववर्ती किसी रामिल कवि-रचित 'मणिप्रभा' नामक नाटक के अस्तित्व का पता 'गुरुरत्नमालिका' की आत्मबोधेन्द्र स्वामी कृत टीका से चलता है। भरत के 'नाट्य-शास्त्र' मे 'समुद्र-मन्थन' और 'त्रिपुर-दाह' नाटकों का उल्लेख है। 'नाट्य-शास्त्र' के सैद्धान्तिक विवेचन से स्पष्ट है कि उस समय तक नाट्य-कला काफी उन्नत हो चुकी थी।

संस्कृत में नाट्य-रचनाओं को 'रूपक' कहते हैं। प्राचीन नाट्य-शास्त्रियों ने रूपकों के २८ भेद किये हैं, जिनमें १० भेद रूपकों के और १८ भेद उपरूपकों के हैं। रूपकों में नाटक, प्रकरण, भाण, प्रहसन, डिम, व्यायोग, समवकार, वीथी, अंक और ईहामृग ये १० प्रकार होते हैं। इनमे नाटक और प्रकरण ही अधिक प्रचलित हैं। उपरूपकों में चार अंकों वाली नाटिका मुख्य है।

संस्कृत-नाटकों की अपनी कई विशेषताएँ हैं। उनमें प्रायः वेद,

पुराण, रामायण या महाभारत से लिया गया कोई प्रसिद्ध वृत्तान्त रहता है। स्वकल्पित या लौकिक कथानक प्रकरण में पाया जाता है। नाटक का नायक प्रतिष्ठित कुल का धीरोदात्त व्यक्ति होता है। प्रधान रस वीर या शृंगार होता है। अंकों की संख्या ५ से लेकर १० तक होती है; उनका दृश्यों में विभाजन नहीं होता। अंक की समाप्ति तक रंगमंच कभी खाली नहीं रहता। दो अंकों के बीच में 'विष्कम्भक' रख दिया जाता है, जिसमें प्रकारान्तर से प्रेक्षकों को ऐसी घटनाओं की सूचना दे दी जाती है, जिनका रंगमंच पर दिखलाया जाना उचित या आवश्यक नहीं है। नाटक के विकास में कई मोड़ आते हैं, जिन्हें 'सन्धियाँ' कहते हैं। पात्र लौकिक और अलौकिक दोनों प्रकार के होते हैं। संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओं का प्रयोग किया जाता है। उच्च वर्ग के पात्र संस्कृत तथा निम्न श्रेणी के लोग और स्त्री-पात्र प्राकृत बोलते हैं। संवादों के बीच-बीच में विविध छन्दों में रचित पद्य रहते हैं, जिनमें प्राकृतिक दृश्यों का चित्रण रहता है या मनोभावों की तीव्र अभिव्यञ्जना की जाती है। संस्कृत-नाटकों में समय और स्थान की अन्विति का प्रायः पालन नहीं किया जाता। रंगमंच पर वध, युद्ध, भोजन, यात्रा, मृत्यु या प्रणय के व्रीडाजनक व्यापार नहीं दिखाये जाते। नाटकों का अन्त सदैव सुखद होता है—उनमें नायक का पराभव या उसकी मृत्यु नहीं दिखाई जाती। यद्यपि उनके कष्टों का करुणापूर्ण अंकन करने में रुकावट नहीं रहती। हास्य की सृष्टि के लिए विदूषक की अवतारणा की जाती है। कभी-कभी नाटक के अन्तर्गत भी नाटक अंकित रहता है। नाटक के आरम्भ में 'प्रस्तावना' रहती है, जिसमें सूत्रधार और नटी के संवाद-रूप में नाटक और नाटककार का परिचय दे दिया जाता है। नाटक के अन्त में शुभकामना-सूचक भरत-वाक्य होता है।

नाटक संस्कृत-साहित्य का एक अत्यन्त समृद्ध अंग है। कविता, संगीत, नृत्य, चित्र-कला और अभिनय इन सभी ललित कलाओं का एकत्र सन्निवेश कहीं देखना हो तो संस्कृत के नाटकों का अवलोकन करना

चाहिए। तभी तो नाट्याचार्य भरत मुनि ने कहा है कि कोई भी ऐसा ज्ञान, शिल्प, विद्या, कला, योग अथवा कर्म नहीं है, जिसकी झाँकी नाट्य में न देखी जा सकती हो। कालिदास ने नाटक को विविध रुचि वाले लोगों के सामान्य मनोरंजन का विविधतापूर्ण साधन बतलाया है : 'नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम्।' विभिन्न रसों का प्रगाढ़ अंकन, प्रीतिपूर्ण और रुचिर कार्यों का अभिनय, शौर्य और प्रेम का चित्रण, विचित्र कथानक तथा चुटीले संवाद भवभूति के अनुसार उत्कृष्ट नाटकों के लक्षण हैं।

भास

संस्कृत में उपलब्ध नाटकों की संख्या बहुत बड़ी है। एक सूची के अनुसार वह ६५० तक चली गई है। संस्कृत के सबसे प्राचीन नाटककार महाकवि भास हैं, जिनका यश कालिदास से पहले ही पर्याप्त फैल चुका था। इस शताब्दी के प्रारम्भ तक भास की कोई रचना नहीं मिलती थी, किन्तु सन् १९१२ में स्वर्गीय महामहोपाध्याय टी० गणपति शास्त्री को त्रावणकोर में तेरह नाटक खोज में मिले, जो उनके अनुसार भास कृत थे। इन तेरह नाटकों में से एक—'स्वप्नवासवदत्तम्'—को राजशेखर ने भास-रचित माना है, और क्योंकि 'स्वप्नवासवदत्तम्' की विशेषताएँ अन्य नाटकों में भी पाई जाती हैं, अतः ये सब भास की रचनाएँ होनी चाहिएँ। परवर्ती कवियों ने भास की जो विशेषताएँ बतलाई हैं, वे भी इन नाटकों में पाई जाती हैं। इसलिए कई विद्वान् इन्हें भास-प्रणीत मानते हैं। किन्तु अलंकार-शास्त्र के आचार्यों ने भास के नाम से जो पद्य या कथांश अपने ग्रन्थों में उद्धृत किये हैं, उनमें से कोई भी इन नाटकों में नहीं पाया जाता। अतः कुछ विद्वानों की धारणा है कि ये नाटक भास-रचित नहीं है। यह भी सम्भव है कि उनका कुछ अंश भास-कृत हो और कुछ केरल देश के चाक्यार नामक नटों द्वारा गढ़ लिया गया हो। इतना तो निश्चित है कि इन नाटकों में कालिदास के-से

परिष्कार एवं भाषा-सौष्ठव की कमी है, तथा पाणिनि और भरत के नियमों का भी सर्वथा पालन नहीं किया गया है इस आधार पर भास एक बहुत प्राचीन नाटककार सिद्ध होते हैं, जिनका स्थिति-काल चौथी पाँचवीं शताब्दी ई० पू० रहा होगा।

भास की तरह इतने बहुसंख्यक नाटकों की रचना संस्कृत-साहित्य में और किसी ने नहीं की। उनके तेरह नाटकों में से छः ('दूतवाक्य', 'कर्णभार', 'दूतघटोत्कच', 'ऊरुभंग', 'मध्यमव्यायोग' और 'पंचरात्र') 'महाभारत' की कथा पर आश्रित हैं; दो नाटकों ('अभिषेक' और 'प्रतिमा') के कथानक रामायण से लिये गए हैं; एक ('बालचरित') श्रीकृष्ण की बाल-लीलाओं का चित्रण करता है, तथा चार ('अवि-मारक', 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण', 'स्वप्नवासवदत्तम्' और 'चारुदत्त') की कथा-वस्तु काल्पनिक है। जिन नाटकों के कथानक 'रामायण'-'महाभारत' पर आश्रित है, उनमें कई रोचक परिवर्तन किये गए हैं। इन सभी कृतियों में भास की नाट्य-कला-कुशलता का सुन्दर परिचय मिलता है। उनके नाटक लघुकाय (कुछ तो एक ही अंक के हैं), घटना-प्रधान और क्रियाशील होने के कारण रंगमंच पर अभिनय के लिए बड़े उपयुक्त हैं। उनका कथोपकथन चुस्त, संक्षिप्त और स्वाभाविक है। व्यंग्य और हास्य का भी सुन्दर पुट मिलता है। उनकी भाषा सरल, मधुर, प्रवाहपूर्ण और लोकोक्तियों के प्रयोग से भरी है। उनका प्रकृति-चित्रण रोचक, नैसर्गिक तथा मानव-प्रकृति के अनुरूप है। भास ने सरल और प्रचलित अलंकारों का ही अधिकतर उपयोग किया है। उनकी कविता का उदाहरण देखिए :

काष्ठादग्निर्जायते मथ्यमानाद्
भूमिस्तोयं खन्यमाना ददाति।
सोत्साहानां नास्त्यसाध्यं नराणां।
मार्गारब्धाः सर्वयत्नाः फलन्ति ॥[1]

१. 'प्रतिज्ञा यौगन्धरायण', १।१८।

अर्थात् लकड़ी घिसने पर उससे आग पैदा होती है, जमीन खोदने से वह जल देती है। सच है, ऐसी कोई वस्तु नहीं जो उत्साह-सम्पन्न लोगों के लिए असाध्य हो, सारे प्रयत्न ठीक ढंग से किये जाने पर निश्चय ही सफलीभूत होते हैं।

शूद्रक

दस अंकों के प्रसिद्ध प्रकरण 'मृच्छकटिक' के कर्ता राजा शूद्रक के ऐतिहासिक अस्तित्व में ही कई विद्वान् शंका करते हैं, उनके अनुसार 'मृच्छकटिक' की रचना किसी अज्ञात कवि ने की और उसे पुराण-प्रसिद्ध राजा शूद्रक के नाम से प्रचारित कर दिया। इसके विपरीत श्री चन्द्रबली पांडे ने यह प्रमाणित करने की चेष्टा की है कि दक्षिण के सातवाहन-वंश के इतिहास प्रसिद्ध राजा वासिष्ठीपुत्र पुलुमावि का ही उपनाम शूद्रक था। पुलुमावि का संवत् २०६ वि० का प्राकृत में लिखित एक शिला-लेख पाया गया है। इस नवीन सिद्धान्त पर पर्याप्त ऊहापोह होकर उसकी पुष्टि होना अभी शेष है। यों 'मृच्छकटिक' भास के 'चारुदत्त' का परिवर्धित रूप जान पड़ता है और उसकी रचना कालिदास से पहले, अर्थात् तृतीय शताब्दी ई० पू० में, मानी जाती है।

'मृच्छकटिक' की नायिका उज्जयिनी की प्रसिद्ध वेश्या वसन्तसेना है, जो चारुदत्त नामक एक दरिद्र किन्तु सुसंस्कृत ब्राह्मण के गुणों पर मुग्ध है। चारुदत्त भी उसके प्रति तीव्र आकर्षण का अनुभव करता है। पर राजा का कुटिल साला शकार वसन्तसेना को अपने वश में करना चाहता है। इस प्रणय-कथा के साथ राजा पालक के विरुद्ध आर्यक के षड्यन्त्र और सफल विद्रोह की राजनीतिक उपकथा भी सम्बद्ध कर दी गई है, जो नायक-नायिका के प्रणय को विकसित और प्रतिफलित करती है।

संस्कृत-नाटक-साहित्य में 'मृच्छकटिक' अपने ढंग की अद्वितीय कृति है। उसमें समाज के निम्न वर्गों का यथार्थ चित्रण हुआ है।

पात्रों की सख्या अधिक होने पर भी मुख्य और गौण सभी पात्रों का विशद चरित्र-चित्रण हुआ है। पतिव्रता वेश्या, वणिक्-वृत्ति का ब्राह्मण गणिका-प्रेमी और फिर भी स्वाभामिनी चोर शर्विलक, धूर्त जुआरी आदि विचित्र पात्रो के अद्भुत व्यापारों से 'मृच्छकटिक' मे अपूर्व रोचकता आ गई है। शृंगार और करुण रसों के अतिरिक्त उसमें प्राकृतिक चित्रण भी मनोहर हुआ है। मनोहर सवाद तथा सरल, स्पष्ट भाषा उसमें सजीवता और नाटकीयता का सचार करते हैं। उसमें सात प्रकार की प्राकृतो का प्रयोग हुआ है, जैसा कि अन्य किसी नाटक में नहीं देखा जाता। शूद्रक के पद्य कवित्वपूर्ण है। वसन्तसेना के मृत शरीर को देखकर विट का करुणा-स्रोत फूट निकलता है :

> दाक्षिण्योदकवाहिनी विगलिता याता स्वदेशं रति-
> र्हा हालंकृतभूषणे सुवदने क्रीडारसोद्भासिनी।
> हा सौजन्यनदि प्रहासपुलिने हा मादृशामाश्रये
> हा हा नश्यति मन्मथस्य विपणिः सौभाग्यपण्याकरः॥

'हाय, आज वह झरना सूख गया जिसमें काम-कला-कुशलता-रूपी जल बहा करता था; रति अपने लोक को लौट गई; अलकारो से विभूषित वह सुमुखी केलि-क्रीडाओ में जिसका उल्लास मुखरित होता था, हाय, जो शिष्टाचार की मानो नदी थी, मादक हँसी जिसके तट थे, मुझ-जैसों का जो एक-मात्र आश्रय थी, वह लुप्त हो गई; हाय, हाय, जिसमे सौभाग्य का सौदा बिका करता था, वह कामदेव का बाजार आज नष्ट हो रहा है।'

'मृच्छकटिक'-जैसा शुद्ध हास्य सस्कृत-वाङ्मय मे अन्यत्र नहीं पाया जाता। उसमें कुछ स्थल तो ऐसे हैं कि दर्शक हँसते-हँसते लोट-पोट हो जाता है। उदाहरणार्थ, एक हारा हुआ जुआरी कर्जदारो से बचने के लिए मन्दिर में मूर्ति बनकर खड़ा हो जाता है और कर्जदार यह देखने के लिए उसे चिकौटी काटते हैं कि मूर्ति सचमुच की है या नही। जब वह इस पर भी हिलता-डुलता नही, तब वे बैठकर जुआ

खेलने लगते हैं, और मूर्ति बने हुए जुआरीराम जुए का आकर्षण रोक नहीं पाते और बरबस बोल पड़ते हैं। शकार का पुराण-ज्ञान भी बड़ा मजेदार है :

चाणक्येन यथा सीता मारिता भारते युगे।
एवं त्वां मोटयिष्यामि जटायुरिव द्रौपदीम्॥

'जिस प्रकार महाभारत के युग में चाणक्य ने सीता को मौत के घाट उतार दिया था, और जैसे जटायु ने द्रौपदी का काम तमाम कर दिया था वैसे ही हे वसन्तसेना मैं तुझे समाप्त कर दूँगा।'

कालिदास

महाकाव्य के क्षेत्रों की भाँति नाटक के क्षेत्रों में भी कालिदास शीर्षस्थानीय हैं। उन्होंने तीन नाटक लिखे— 'मालविकाग्निमित्र' 'विक्रमोर्वशीय' और 'अभिज्ञान-शाकुन्तल'। 'मालविकाग्निमित्र' पाँच अंकों का नाटक है, जो सम्भवतः उज्जयिनी में वसन्तोत्सव के अवसर पर खेला गया था। उसमें राजमहल में चलने वाले उन प्रणय-षड्यन्त्रों का चारु चित्रण है, जिनके आधार पर बाद में संस्कृत में कई नाटिकाएँ रची गई। मालविका राजमहल में परिचारिका के रूप में काम करती हुई जहाँ एक ओर राजा अग्निमित्र को आकर्षित करती है वहाँ दूसरी रानी की सौतिया डाह भी जगाती है। इस प्रेम-प्रपंच को विचित्र प्रसंगों, चुभते संवादों तथा सरस-विनोद से प्रतिमण्डित किया गया है। अपने स्वामी की प्रणय-सिद्धि कराने में विदूषक की युक्तियाँ बड़ी मनोरंजक हैं। नृत्य और संगीत का इस नाटक में आकर्षक उपयोग किया गया है। विभिन्न घटनाओं को निपुणता से परस्पर गूँथा गया है। कवि का तरुण प्रयास होने पर भी उसमें कई मनोहर पद्य हैं। मालविका के सौन्दर्य का कैसा रमणीय चित्रण है :

दीर्घाक्षं शरदिन्दुकान्तिवदनं बाहूनतावंसयोः
संक्षिप्तं निबिडोन्नतस्तन मुरः पार्श्वे प्रमृष्टे इव।

मध्य. पाणिमितोऽमितं च जघनं पादावरालांगुली
छन्दो नर्तयितुर्यथैव मनसि शिलष्टं तथास्या वपु ॥२।३

अर्थात् 'उसकी आँखें बड़ी, शरत्कालीन चन्द्रमा के समान कान्ति-युक्त, दोनो बाहे कन्धो के पास थोड़ी झुकी हुई, वक्षःस्थल सुगठित तथा उन्नत और घने उरोजो से युक्त, पार्श्व-भाग जैसे चिकने कर दिए गए हो, कमर ऐसी कि मुट्ठी मे समा सके, जाँघे अपार विस्तार वाली और पैरो की अँगुलियाँ टेढ़ी-मेढ़ी हैं, मालविका की यह शरीर रचना इसके नृत्य-गुरु की इच्छानुसार ही की गई जान पड़ती है।'

'विक्रमोर्वशीय' पाँच अंको का 'त्रोटक' (उप रूपक) है, जिसमे राजा पुरूरवा और अप्सरा उर्वशी के प्रेम की वैदिक कथा कवित्व और नाटकीय कौशल के साथ वर्णित है। भाव, भाषा और शैली की रम-णीयता दर्शनीय है। सम्भोग और विप्रलम्भ शृंगार का अच्छा निदर्शन हुआ है। प्रकृति का मानवीय मनोभावो की पृष्ठभूमि मे कवित्वपूर्ण चित्रण किया गया है। उर्वशी के सौन्दर्य-स्मरण मे मग्न राजा को वसन्त ऋतु की शोभा यौवन की देहली पर खड़ी रमणी की-सी लगती है :

अग्रे स्त्रीनखपाटलं कुरबकं श्यामं द्वयोर्भागयोः
रक्ताशोकमुपोढ़राग सुभगं भेदोन्मुखं तिष्ठति।
ईषद्बद्धरज. कणाग्र कपिशा चूते नवा मंजरी
मुग्धत्वस्य च यौवनस्य च सखे मध्ये मधुश्री स्थिता ॥२।७

'यह है कुरबक का पुष्प, जिसका सिर स्त्री के नख के समान लाल और जिसके दोनों छोर श्याम वर्ण के हैं। मनोहर लालिमा वाला यह अशोक-पुष्प, ऐसा जान पड़ता है कि बस अब खिलने ही वाला है; और यह देखो, इस आम्र-वृक्ष मे पीले पराग वाला नया बौर फूट रहा है। सखे, वसन्त की यह शोभा ऐसी लगती है, मानो वह अपने बचपन और जवानी के बीच में खड़ी हुई हो।'

'अभिज्ञान-शाकुन्तल' कालिदास का सर्वोत्कृष्ट नाटक एवं विश्व-

साहित्य की एक उत्कृष्ट कृति है। उसमें राजा दुष्यन्त तथा आश्रम-वासिनी शकुन्तला के मिलन, प्रेम, विवाह, वियोग और पुनर्मिलन की कथा वर्णित है, जिसका आधार 'महाभारत' का शकुन्तलोपाख्यान है, पर जिसमें कवि ने अपनी कल्पना और प्रतिभा के बल पर कुछ परि-वर्तन करके उसे एक हृदयग्राही नाटकीय रूप दे दिया है। कालिदास की नाट्य-कला-कुशलता का उसमें चरम विकास दीख पड़ता है। शकुन्तला के मुग्ध मानस में प्रणय की प्रथम उद्भूति से लेकर उसके उद्दाम विकास तक का वर्णन कालिदास ने बड़े कौशल से किया है। जब शकुन्तला आश्रम से विदा लेकर पति-गृह को प्रयाण करती है, उस समय कालिदास ने प्रकृति को भी विच्छेदजन्य व्याकुलता से परिपूर्ण दिखाकर मानव-प्रकृति और बाह्य प्रकृति के बीच एक अपूर्व तादात्म्य एवं स्नेह-सम्बन्ध स्थापित कर दिया है। 'शाकुन्तल' में स्थल-स्थल पर ऐसा वर्णन-सौन्दर्य मिलता है कि उसे तूलिकाबद्ध करने पर उत्कृष्ट चित्र निर्मित हो सकते हैं। उसके चरित्रों का चित्रण सहज और स्वाभाविक ढंग से मनोवैज्ञानिक आधार पर किया गया है। महान् मानवीय आदर्शों का उसमें अनुपम प्रस्फुटन हुआ है। शकुन्तला कोई सामान्य प्रेम-पीड़िता नायिका नहीं है, कवि ने उसे जीवन की महान् साधिका के रूप अंकित किया है, जिसका उद्दाम प्रेम विरह-व्रत से शुद्ध और पूर्ण होता है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर के शब्दों में **'शकुन्तला के आरम्भ के सौन्दर्य ने मंगलमय परिणति से सफलता प्राप्त करके मर्त्य को अमृत के साथ सम्मिलित कर दिया है।'** जर्मन महाकवि गेटे को उसमें भू और स्वर्ग दोनों के चुने हुए सम्मिलित तत्त्वों का सुन्दर समन्वय दिखाई पड़ा :

> **वसन्ती यौवन का उन्माद,**
> **ग्रीष्म का रसप्लावित फल-दान,**
> **हृदय को करने वाला मुग्ध,**
> **मग्न, परितृप्त,—प्रणय का दान,**

जहाँ पर धरती औ' आकाश
परस्पर करते प्रेमालाप,
दिखाते अपनी झाँकी दिव्य,
तुम्हीं में शाकुन्तल-अभिज्ञान।

भाषा और शैली की दृष्टि से 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' नितान्त अभिराम कृति है। भास और शूद्रक की तरह कालिदास ने भी सरल भाषा का प्रयोग किया है. किन्तु इनमे जो परिष्कार, प्राञ्जलता और प्रासादिकता है वह उन दोनों मे नहीं है। 'शाकुन्तल' का गद्य बड़ा चुस्त और मुहावरेदार है। जब राज-दरबार में दुष्यन्त शकुन्तला को पत्नी-रूप से ग्रहण करने को तैयार नहीं होते तब शकुन्तला तिल-मिलाकर कहती है—"**अनार्य आत्मनो हृदयानुमानेन प्रेक्षसे। क इदानीमन्यो धर्मकंचुकप्रवेशिनस्तृणच्छन्नकूपोपमस्य तवानुकृतिं प्रतिपत्स्यते।**" अर्थात् 'तुम सबके हृदय को अपने ही हृदय के समान अशुद्ध समझते हो। तुम्हें छोड़कर और कौन ऐसा नीच होगा जो घास-फूस से ढके हुए कुएँ के समान धर्म का ढोंग रचकर ऐसा निदिन्त काम कर सके।' कालिदास के पात्र अपने पद के अनुरूप भाषा का प्रयोग करते है। पेटू विदूषक खान-पान-विषयक उपमाओ का ही प्रयोग करता है। आश्रम-बाला शकुन्तला के प्रति दुष्यन्त के बढते हुए आकर्षण को देखकर वह कहता है—"**यथा कस्यापि पिण्डखर्जूरैरुद्वेजितस्य तिन्तिण्यामभिलाषो भवेत् तथा स्त्रीरत्नपरिभाविनो भवत इयमभ्यर्थना।**" अर्थात् 'पके खजूर के मीठे फलो से ऊबकर जैसे कोई इमली चखने की इच्छा प्रकट करे, वैसे ही आप भी रनिवास की सुन्दर रानियो से तृप्त होकर इस तापस कन्या के प्रति आकृष्ट हो रहे है।'

'शाकुन्तल' मे कालिदास की शैली व्यञ्जना-प्रधान है। शब्द-लाघव का आश्रय लेकर वह विपुल भाव ध्वनित कर देते हैं। 'शाकुन्तल' में ऐसे अनेक स्थल हैं जहाँ लम्बा-चौड़ा वर्णन करके भावातिरेक का प्रदर्शन करने का लोभ-संवरण करना कठिन है, पर कालिदास ऐसे सभी स्थानों

पर चुने हुए सीमित शब्दो का उपयोग कर प्रस्तुत दृश्य या भाव की मार्मिक झाँकी-भर दिखा देते हैं। 'शाकुन्तल' के पद्यों की रमणीय पद-शय्या बड़ी मनोमुग्धकारिणी है। शकुन्तला के सौन्दर्य-वर्णन का एक सरस पद्य देखिए—

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्मलक्ष्मीं तनोति।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्॥

'जिनकी आकृति ही सुन्दर होती है, उनके लिए कौन-सी वस्तु शोभा बढ़ाने वाली नहीं हो जाती! सिवार की घास मे लिपटा होने पर भी कमल कैसा रमणीय प्रतीत होता है! काले धब्बों से युक्त होने पर भी चन्द्रमा की शोभा किसी अंश मे घटती नहीं। इसी प्रकार पेड़ों की छाल पहनने पर भी यह तन्वंगी आश्रम-बाला और अधिक मनोहर लग रही है।'

विशाखदत्त

पाँचवीं या छठी शताब्दी मे हुए विशाखदत्त का 'मुद्राराक्षस' नाटक संस्कृत के महान् नाटकों मे से एक है। भारतीय नाट्य-साहित्य मे राजनीतिक कथानक को लेकर शायद ही इतना रसमय नाटक और कोई लिखा गया हो। नन्दवंश का मन्त्री राक्षस अपने मृत स्वामी का प्रतिशोध लेने के लिए चन्द्रगुप्त मौर्य के सर्वनाश का निरन्तर प्रयत्न करता है, जबकि चन्द्रगुप्त का अमात्य चाणक्य अपनी कूटनीति से राक्षस की समस्त चालों को विफल करके अन्त मे उसे चन्द्रगुप्त का ही पक्षपाती बना लेता है। इन दोनों महान् कूटनीतिज्ञों का यह बौद्धिक संग्राम विशाखदत्त ने कवि-कौशल के साथ चित्रित किया है। जैसे महावन मे लड़ते दो मतवाले हाथियो के बीच फँसी भयभीत हथिनी कभी एक वन-गज की ओर तो कभी दूसरे की ओर जाती है, वैसे ही राज्यलक्ष्मी

(चाणक्य और राक्षस द्वारा क्रमशः रक्षित) चन्द्रगुप्त और मलयकेतु के बीच गमनागमन करती-सी प्रतीत होती है :

विरुद्धयोर्भृशमिह मन्त्रिमुख्ययो-
र्महाबले वनगजयोरिवान्तरे।
अनिश्चयाद् गजवशयेव भीतया
गतागतैर्ध्रुवमिव खिद्यते श्रिया॥

'मृच्छकटिक' की भाँति 'मुद्राराक्षस' एक विशुद्ध घटना-प्रधान नाटक है। उसमें शृंगार-रस का सर्वथा बहिष्कार कर दिया गया है। विभिन्न पात्रों का चित्रण कौशल और स्पष्टता से हुआ है। 'मुद्रा-राक्षस' में कई स्थलों पर दृश्य-परिवर्तनों का स्पष्ट संकेत मिलता है। उसकी भाषा बड़ी सशक्त एवं ओजोगुणविशिष्ट है। करुणा अथवा भावुकता के लिए उसमें अवकाश नहीं। पद्य की अपेक्षा उसका गद्य अधिक प्रभावशाली है। **'न प्रयोजनमन्तरा चाणक्यः स्वप्नेऽपि चेष्टते'** (बिना प्रयोजन के तो चाणक्य सपने में भी हलचल नहीं करता), **'सर्वज्ञतामुपाध्यायस्य चोरयितुमिच्छसि'** (क्या गुरुदेव की सर्वज्ञता को तुम चुराना चाहते हो?), **'कीदृशः पुनः तृणानामग्निना सह विरोधः'** (भला कहीं तिनके आग से बैर ठान सकते हैं!)—इस प्रकार के नपे-तुले, जोरदार और मुहावरेदार वाक्य 'मुद्राराक्षस' के गद्य में पौरुष और ओज का संचार करते हैं। फिर भी विशाखदत्त का काव्य-पक्ष निर्बल नहीं है। लालित्यपूर्ण पद्य तथा अलंकारमयी सुन्दर कल्पनाओं का उनके नाटक में अभाव नहीं है, पर यह दर्शनीय है कि सभी काव्य-कल्पनाएँ राजनीति से ही अनुप्राणित हैं। एक जीर्णोद्यान की अरमणीयता का वर्णन हतप्रभ राक्षस के शब्दों में देखिए :

विपर्यस्तं सौधं कुलमिव महारम्भरचनं
सरः शुष्कं साधोर्हृदयमिव नाशेन सुहृदाम्।
फलैर्हीना वृक्षा विगुणनृपयोगादिव नया-
स्तृणैश्छन्ना भूमिर्मतिरिव कुनीतेरविदुषः॥

अर्थात् 'नन्दो के विशाल कुल की तरह यह महल भी आज विध्वस्त हो गया है; मित्रों के नाश से सज्जन के हृदय की तरह यह सरोवर सूख गया है; मूर्ख राजा के सम्पर्क से मन्त्री के उद्योगों की तरह ये वृक्ष विफल हो गए हैं और शत्रु की कूटनीति से मूढ़ बनी मति की तरह यह भूमि घास-फूस से आकुल हो गई है।'

'मुद्राराक्षस' के अतिरिक्त विशाखदत्त ने 'देवी चन्द्रगुप्त' और 'राघवानन्द' नाम के दो और नाटकों की रचना की। 'देवी चन्द्रगुप्त' में, जिसके कुछ ही अंश उपलब्ध हुए है, राजमहिषी ध्रुवदेवी के चन्द्रगुप्त द्वितीय द्वारा शक-नरेश के पंजे से मुक्त किये जाने की घटना वर्णित है। 'राघवानन्द' नाटक का अभी तक पता नहीं चला है।

'मुद्राराक्षस' के कुछ ही बाद का 'कौमुदी महोत्सव' नामक पाँच अंकों का नाटक मिलता है, जिसकी रचयित्री विज्जका कोई दाक्षिणात्य कवयित्री थी। विज्जका के नाम से सुभाषित-ग्रन्थों में कई सुललित पद्य पाये जाते है। इसमें भी 'मृच्छकटिक' की भाँति राजनीतिक घटनाओं के अन्दर प्रणय-कथा को पिरोया गया है। कल्याण वर्मा किस प्रकार अपने खोये हुए राज्य के साथ-साथ शूरसेन की राजकुमारी कीर्तिमती को भी पा लेते हैं, यह उभय कथा इस नाटक में अभिनीत है। इसका अभिनय कल्याण वर्मा के राज्याभिषेक पर हुआ था और उस दिन कौमुदी महोत्सव (कार्तिक पूर्णिमा) का अवसर था।

हर्ष

भारतीय इतिहास में सम्राट् हर्षवर्धन (६०६-६४८ ई०) का नाम उनके सुशासन और साहित्य-प्रेम के लिए विख्यात है। उन्होंने तीन नाटक लिखे—'रत्नावली', 'प्रियदर्शिका' और 'नागानन्द'। 'रत्नावली' चार अंकों की एक लोकप्रिय नाटिका है। इसका कथानक 'मालविकाग्निमित्र' के ही समान है, यद्यपि घटनाएँ भिन्न हैं। वत्सराज और सागरिका का प्रेम-प्रपंच सजीव घटनाओं और विदूषक के विनोदपूर्ण

व्यवहार से बड़ा सरस हो उठा है। नाट्यशास्त्र के नियमों का 'रत्नावली' में पूर्ण पालन किया गया है, इसीलिए अलंकार-शास्त्र के ग्रन्थों में उसके अंश उदाहरण-रूप में उद्धृत पाये जाते हैं।

'प्रियदर्शिका' भी चार अंकों की नाटिका है और 'रत्नावली' के समान ही किसी विवाहित राजा की विलासमय प्रणय-लीलाओं का चित्रण करती है। 'नागानन्द' पाँच अंकों का एक नाटक है और अपनी प्रेम-कथा के अन्तर्गत आत्म-त्याग के उज्ज्वल आदर्श की प्रस्थापना करता है। नाटक का नायक जीमूतवाहन अपनी प्रेमिका मलयवती के साथ विवाह के बाद ही शंखचूड़ सर्प के बदले गरुड़ को अपनी बलि देने को तैयार हो जाता है। यह हर्ष के उत्तर जीवन की कृति है, जबकि उन्होंने बौद्ध धर्म अंगीकार कर लिया था। तभी इसमें बौद्ध आदर्शों का निरूपण देखने को मिलता है।

हर्ष की शैली सरल और प्रासादिक है। विशेषकर शृंगारिक पद्यों में उनकी सरसता एवं काव्य-निपुणता का परिचय मिलता है। नववधू के संकोच का एक वर्णन देखिए—

दृष्टा दृष्टिमधो ददाति कुरुते नालापमाभाषिता
शय्यायां परिवृत्य तिष्ठति बलादालिंगिता वेपते।
निर्यान्तीषु सखीषु वासभवनान्निर्गन्तुमेवेहते
जाता वामतयैव मेऽद्य सुतरां प्रीत्यै नवोढा प्रिया॥[1]

अर्थात् 'चार आँखें होते ही वह अपनी नजर नीची कर लेती है; कुछ कहने पर भी वह कोई उत्तर नहीं देती, सिर फेरकर वह शय्या पर लेटी रहती है; जबरदस्ती बाहों में भर लिये जाने पर वह काँपने लगती है; जब उसकी सखियाँ कमरे से बाहर जाने लगती हैं तब वह भी उठकर चल देना चाहती है; किन्तु इस प्रकार उलटा व्यवहार करने पर भी मेरी नवविवाहिता पत्नी आज मुझे बड़ी ही प्यारी लग रही है।'

---

१. 'नागानन्द', ३, ४।

भवभूति

संस्कृत के महान् नाटककारो मे भवभूति का गौरव बहुत-कुछ कालिदास के समकक्ष माना जाता है। उनकी स्थिति ७०० ई० के लगभग कन्नौज के राजा यशोवर्मा के शासन-काल में थी। उनका प्रारम्भिक नाम श्रीकण्ठ और भवभूति उनका उपनाम था। उनकी कृतियो में पाडित्य और प्रतिभा का सुन्दर संयोग दीख पड़ता है। भाषा की प्रौढता, शास्त्रो का व्यापक ज्ञान, भावों की गरिमा एवं निरीक्षण की सूक्ष्मता के कारण उनके ग्रन्थों में सरसता के स्थान पर गम्भीरता और उदात्तता के अधिक दर्शन होते हैं। सम्भव है, इस कारण उनकी रचनाएँ उनके जीवन-काल मे अधिक लोकप्रियता प्राप्त न कर सकी हो, पर उन्हे विश्वास था कि कभी-न-कभी मेरा समुचित मूल्यांकन करने वाला व्यक्ति अवश्य पैदा होगा, क्योंकि समय अनन्त है और पृथ्वी विपुल—

उत्पत्स्यते च मम कोऽपि समानधर्मा
कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी।

भवभूति के तीनो नाटक—'महावीर चरित', 'मालतीमाधव' और 'उत्तररामचरित' आज भी पर्याप्त प्रचलित हैं। 'महावीर चरित' मे राम-विवाह से लेकर राम-राज्याभिषेक तक की कथा को नाटकीय रूप दिया गया है। कथा मे कवि ने कई काल्पनिक परिवर्तन किये हैं और राम को एक आदर्श पुरुष दिखलाने के लिए उनके तथाकथित दोषों को भिन्न रूप से प्रदर्शित किया है। रावण का परशुराम को उकसाकर राम से भिड़ा देना, शूर्पणखा द्वारा मन्थरा का रूप धारण करके राम को वन भिजवाने में योग देना, रावण का सहायक बनकर बाली का राम से लड़ने आना आदि कल्पना-प्रसूत घटनाएँ चिर-परिचित राम-कथा में रोचकता का संचार करती हैं। 'महावीरचरित' में वीर-रस का अच्छा परिपोष हुआ है। 'मालतीमाधव' १० अंको का 'प्रकरण' है, जिसमे मालती और माधव के प्रेम और विवाह की कथा चित्रित है। 'उत्तररामचरित' भवभूति का सर्वोत्कृष्ट नाटक है तथा करुण-रस की

मार्मिक अभिव्यंजना के लिए संस्कृत साहित्य में शीर्षस्थानीय है। उसमें सात अंको मे राम का उत्तर जीवन अंकित है, किन्तु जहाँ रामायण की कथा का पर्यवसान शोकपूर्ण है—उसमें परित्यक्ता सीता इह-लोक से अन्तर्धान हो जाती हैं—वहाँ 'उत्तररामचरित' की समाप्ति राम-सीता के सुखद मिलन से होती है। दीर्घ वर्णनात्मक एवं भावात्मक प्रसंगो से यद्यपि उसकी क्रियाशीलता में बाधा पड़ी है, तथापि नाट्य-कला की दृष्टि से उसमें अनेक विशेषताएँ हैं। भावो के अन्तर्द्वन्द्व को नाटकीय रूप देने मे भवभूति बड़े सफल हुए हैं।

भाषा और शैली के विविध प्रयोगों मे भवभूति एक विलक्षण कलाकार है। सरल और क्लिष्ट, समास-सकुल और समास-रहित दोनो प्रकार की शैलियों के उन्होने प्रभावशाली प्रयोग किये है। कहीं '**त्वं जीवितं त्वमसि मे हृदयं द्वितीयम्**' जैसी सरल और मधुर पदावली है तो कही '**झणत्कारक्रूरक्वणितगुणगुंजद्गुरुधनुः**' जैसे विकट गाढ़बन्ध है। अवसर और व्यक्ति के अनुरूप भाषा का प्रयोग करने का वह विशेष ध्यान रखते हैं। अर्थ के अनुकूल ध्वनि उत्पन्न करने मे वह निपुण है। उनकी शैली मे वाच्यार्थ की प्रधानता है; किसी भाव-विशेष को व्यक्त करने मे वह वाग्विस्तार का आश्रय लेते हैं, सक्षेप मे उसे व्यजित कर देना उन्हे इष्ट नहीं। सीता के सुमधुर वचनो के प्रभाव का कैसा विस्तृत एव अनुप्रासमय वर्णन है—

म्लानस्य जीवकुसुमस्य विकासनानि
सन्तर्पणानि सकलेन्द्रिय मोहनानि।
एतानि ते सुवचनानि सरोरुहाक्षि
कर्णामृतानि मनसश्च रसायनानि॥

अर्थात् हे कमलनयने, तुम्हारे ये कोमल शब्द मुरझाये हुए जीवन-पुष्प को विकसित करने वाले हैं, उसे पूर्णतया परितृप्त करने वाले, सम्पूर्ण इन्द्रियों को मोहित कर देने वाले, कानो में अमृत घोल देने वाले तथा रसायन की तरह मन की शक्ति को बढ़ाने वाले हैं।

भवभूति करुण-रस के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। जैसे जल कभी भँवर, कभी बुद्बुद और कभी लहर का रूप ले लेता है, पर वास्तव मे है जल ही, वैसे 'उत्तररामचरित' मे एक करुण-रस अनेक रसों का रूप धारण करके प्रेक्षकों या पाठकों के हृदय मे कारुण्य का ही संचार करता है। जहाँ तक प्राकृतिक चित्रण का प्रश्न है, भवभूति की दृष्टि प्रकृति के घोर और प्रचण्ड रूप पर ही गई है। प्रेम का भी उन्होंने अपने नाटकों में बड़ा विशुद्ध और उच्च आदर्श स्थापित किया है। कालिदास ने जहाँ नारी के बाह्य सौन्दर्य का रमणीय वर्णन किया है वहाँ भवभूति उसके अन्तः-सौन्दर्य को उद्घाटित करते हैं। इन दोनों कलाकारों की पारस्परिक विशेषताओं पर सुप्रसिद्ध बंगाली नाटककार द्विजेन्द्रलाल राय के ये शब्द कितना मार्मिक प्रकाश डालते हैं :

"विश्वास की महिमा में, प्रेम की पवित्रता मे, भाव की तरंग-क्रीड़ा मे, भाषा के गाम्भीर्य मे और हृदय के माहात्म्य में 'उत्तररामचरित' श्रेष्ठ है; और घटनाओं की विचित्रता में, कल्पना के कोमलत्व मे, मानव-चरित्र के सूक्ष्म विश्लेषण में, भाषा की सरलता और लालित्य मे 'अभिज्ञानशाकुन्तल' श्रेष्ठ है। संस्कृत-साहित्य मे ये नाटक अद्वितीय हैं। 'अभिज्ञानशाकुन्तल' शरद् ऋतु की पूर्ण चाँदनी है, 'उत्तरराम-चरित' नक्षत्र-खचित नील आकाश है। एक व्यञ्जन है, दूसरा हविष्यान्न है, एक वसन्त है, दूसरा वर्षा है; एक नृत्य है, दूसरा अश्रु है; एक उपभोग है, दूसरा पूजन है।"

भट्ट नारायण

'वेणीसंहार' नाटक के कर्त्ता भट्ट नारायण भवभूति के समकालीन थे, अथवा उनके कुछ ही बाद हुए थे। उसमें छः अंकों मे महाभारत-युद्ध की कथा को नाटकीय रूप दिया गया है। दुःशासन के हाथों खोली गई द्रौपदी की वेणी का दुर्योधन-वध के उपरान्त भीम द्वारा रक्त-रञ्जित हाथों से बाँधा जाना इस नाटक की मूल घटना है। इस नाटक मे

भीम की अपेक्षा दुर्योधन को अधिक महत्त्व का स्थान मिला है। उसका स्वाभिमान, आत्मविश्वास, साहस और शौर्य तथा उसकी विपत्तिग्रस्त स्थिति आत्मश्लाघी भीम की अपेक्षा उसके प्रति प्रेक्षकों की समवेदना जगाती है। एक मत के अनुसार दुर्योधन ही इस नाटक का नायक है और नाटककार ने उसके दुःख, पराभव और मरण का चित्रण कर सारे नाटक को एक भावपूर्ण दुःखान्त नाटक बना दिया है।

'वेणीसंहार' एक घटना-प्रधान नाटक है, पर बीच-बीच में पद्यों के आधिक्य तथा दीर्घ वर्णनों ने उसकी नाटकीय गति को शिथिल बना दिया है। उसका प्रधान रस वीर है, जिसकी पुष्टि करुण, रौद्र और भयानक रसों से की गई है। 'रत्नावली' की भाँति उसकी रचना भी सर्वथा नाट्यशास्त्र के अनुसार होने के कारण वह नाटकीय सिद्धान्तों के प्रदर्शन के लिए आलंकारिकों में विशेष समादृत है। उसकी शैली ओजस्विनी तथा गद्य-स्थलों में समास-बहुल है। भीम की एक दर्पोक्ति देखिए—

मथ्नामि कौरवशतं समरे न कोपाद्
दुःशासनस्य रुधिरं न पिबाम्युरस्तः।
संचूर्णयामि गदया न सुयोधनोरू
सन्धिं करोति भवतां नृपतिः पणेन ॥१।१५

'महाराज युधिष्ठिर चाहे कीमत चुकाकर सन्धि क्यों न करते रहें, पर क्या मैं रणभूमि में सौ-के-सौ कौरवों को क्रोधपूर्वक मथ न डालूँगा, दुःशासन के हृदय का रुधिर नहीं पी डालूँगा और दुर्योधन की जाँघों को गदा से चूर्ण-विचूर्ण न कर डालूँगा ?'

मुरारि तथा अन्य राम-नाटककार

भवभूति के बाद संस्कृत में 'रामायण' के आधार पर रचे गए नाटकों की बाढ़-सी आ गई। नाटककार राम के महान् चरित्र में, तथ्य और कल्पना का आश्रय लेकर, अधिकाधिक नवीनता, उदात्तता और सौष्ठव

ग संचार करने लगे। मुरारि (८०० ई०) ने 'अनर्घराघव' की रचना करके सात अंको मे ताटका-वध से लेकर राम-राज्याभिषेक तक की घटनाएँ वर्णित की हैं। इसमे कवि ने अपने पौराणिक ज्ञान का प्रचुर प्रदर्शन किया है। शब्द वैभव, गम्भीर पदशय्या तथा कतिपय मौलिक उपमाओं का प्रयोग मुरारि की विशेषताएँ हैं, किन्तु वह भवभूति की कोटि तक नहीं पहुँच सके हैं। 'अनर्घराघव' एक प्रयासपूर्ण और बोझिल कृति है। शंकराचार्य (७८८-८२० ई०) के शिष्य शक्तिभद्र का 'आश्चर्य चूड़ामणि' नाटक राम-कथा मे अद्भुत-रस का संचार करता है। इसमे शूर्पणखा के प्रसंग से लगाकर रावण-वध और सीता की अग्नि-परीक्षा तक की कथा वर्णित है। सीताहरण में शूर्पणखा का कपटपूर्ण योग दिखाकर नाटककार ने एक रोचक परिवर्तन किया है। शक्तिभद्र की पद्य-शैली सरल, मधुर और प्रासादिक है। संस्कृत का सबसे बड़ा नाटक दामोदर मिश्र का 'हनूमन्नाटक' है, जिसकी रचना ८५० ई० से पहले हो चुकी थी। १४ अंकों के इस महानाटक में गद्य का बहुत कम प्रयोग हुआ है तथा प्राकृत का सर्वथा अभाव है। राजशेखर (१००० ई०) का 'बाल रामायण' भी १० अंकों का होने के कारण महानाटक कहलाता है। इसमें अधिकतर रावण की दीनता और पौरुषहीनता का चित्रण है। वर्णन-विस्तार, पद्यों के अतिशय बाहुल्य तथा विशालकाय छन्दों के प्रयोग ने इस नाटक की कलेवर-वृद्धि की है। 'बाल रामायण' के अतिरिक्त राजशेखर ने 'बाल भारत' नाम का एक और नाटक (जिसके केवल दो अंक मिले हैं), 'विद्धशाल भंजिका' नाम की नाटिका तथा 'कर्पूरमंजरी' नाम का एक नृत्य-प्रधान प्राकृत-नाटक भी लिखा। दिङ्नाग (१००० ई०) की 'कुन्दमाला' रामायण के उत्तर काण्ड पर आश्रित है और भवभूति के 'उत्तररामचरित' से प्रभावित जान पड़ती है, क्योंकि इसमे भी छाया-सीता की कल्पना की गई है और राम-सीता के मिलन से नाटक का सुखान्त किया गया गया है। 'उत्तररामचरित' जहाँ भावाभिव्यञ्जना की दृष्टि से अधिक श्रेष्ठ

है, वहाँ 'कुन्दमाला' अधिक क्रियाशील कृति है। दिङ्नाग की शैली भी भवभूति की अपेक्षा अधिक सरल है। जयदेव (१२०० ई०) के 'प्रसन्न-राघव' में रामकथा का प्रसन्न-मधुर रूप अनेक रोचक परिवर्तनों के साथ कोमल-कान्त पदावली में प्रस्तुत किया गया है। जयदेव का शब्द-विन्यास बड़ा प्रांजल, रमणीय और मधुर है। सुन्दर सूक्तियाँ भी बहुत प्रयुक्त हुई हैं। यह जयदेव गीत-गोविन्दकार जयदेव से भिन्न हैं, यद्यपि दोनों की भाषा एक-सी लालित्यपूर्ण है। रामभद्र दीक्षित (१७०० ई०) के 'जानकी-परिणय' में नकली राम, लक्ष्मण और विश्वामित्र असली राम, लक्ष्मण और विश्वामित्र के प्रतिपक्षी बनकर हास्य और आश्चर्य की प्रभूत सामग्री उपस्थित करते हैं।

प्रतीक नाटक

संस्कृत में ऐसे नाटकों की भी रचना हुई, जिनके पात्र अमूर्त गुणों या भावों के प्रतीक होते हैं। कृष्णमिश्र (११०० ई०) का 'प्रबोध-चन्द्रोदय' इस प्रकार का एक सुप्रसिद्ध नाटक है। इसमें एक ओर महा-मोह, काम, क्रोध, लोभ, दम्भ और अहंकार तथा दूसरी ओर विवेक, सन्तोष, शान्ति, करुणा, मैत्री, भक्ति, क्षमा आदि का संघर्ष चित्रित है, जिसमें अन्ततः इन सद्गुणों की ही विजय होती है। दर्शन और अध्यात्म, भक्ति और ज्ञान का रोचक उपदेश देने का इस नाटक में सफल प्रयास हुआ है। इसके अनुकरण पर बाद में यशपाल का 'मोहराजपराजय' (१२०० ई०), वेंकटनाथ का 'संकल्पसूर्योदय' (१४०० ई०) तथा कवि कर्णपूर का 'चैतन्य चन्द्रोदय' (१६०० ई०) जैसे कई प्रतीक-नाटक रचे गए। गोस्वामी तुलसीदासजी ने अरण्यकाण्ड में पंचवटी के वर्णन-प्रसंग में जिस आध्यात्मिक रूपक की योजना की है, उसमें 'प्रबोध चन्द्रोदय' के पात्र भी अपनाये गए हैं। केशवदास ने अपनी 'विज्ञान-गीता' में उसका छन्दोबद्ध अनुवाद किया है। औरंगजेब के समकालीन मारवाड़ के महाराजा जसवन्तसिंह ने भी 'प्रबोधचन्द्रोदय'

का अनुवाद किया था।

अन्य रूपक

मद्रास से १९२२ में 'चतुर्भाणी' के नाम से एक संग्रह प्रकाशित हुआ था, जिसमें शूद्रक का 'पद्मप्राभृतक', वररुचि-कृत 'उभयाभिसारिका', ईश्वरदत्त-कृत 'धूर्त-विट-संवाद' तथा श्यामिलक-कृत 'पादताडितक' ये चार भाण प्रकाशित हैं। ये भाण सभी एकांकी हैं और समाज के निम्न वर्गों का चित्रण करते हैं। कथानक बहुत लघु होते हुए भी उनमें सभी बड़े नगरों में पाये जाने वाले धूर्तों, जुआरियों, विटों, सन्दिग्ध व्यक्तियों के कारनामों का सजीव और हृदयग्राही वर्णन हुआ है। उनकी भाषा प्रवाहपूर्ण तथा संवाद-प्रधान है। सरलता और विविधता का उनमें कान्त सम्मिश्रण है।

रूपकों के अन्य प्रकारों के उदाहरण कम मिलते हैं। सातवीं शती के महेन्द्रविक्रम वर्मा-कृत 'मत्तविलास-प्रहसन' के बाद उल्लेखनीय वत्सराज (१२०० ई०) की ये कृतियाँ हैं—एकांकी व्यायोग 'किरातार्जुनीय', भाण 'कर्पूरचरित', प्रहसन 'हास्यचूड़ामणि', ईहामृग 'रुक्मिणीहरण', डिम 'त्रिपुरदाह' और समवकार 'समुद्र-मन्थन'।

: ७ :

गद्य-साहित्य

विश्व के अन्य देशों की भाँति भारत में भी साहित्य का उदय पद्य की मनोरम कड़ियों में हुआ और हमारा प्राचीनतम ग्रन्थ 'ऋग्वेद' पूर्णतः पद्यमय ही है। किन्तु गद्य ने अपने व्यावहारिक महत्त्व के कारण शीघ्र ही प्रतिष्ठित पद पा लिया और 'कृष्णयजुर्वेद', 'अथर्ववेद' तथा ब्राह्मण-ग्रन्थों में वह वैदिक आर्यों के क्रिया-कलापो का समर्थ वाहक बन गया। प्राचीन उपनिषदों की दार्शनिक चिन्ताएँ भी गद्य के माध्यम से अभिव्यक्त हुई। जहाँ वैदिक गद्य याज्ञिक प्रक्रियाओ का विस्तार करने के कारण नीरस है, वहाँ औपनिषदिक गद्य शैली की दृष्टि से स्वच्छन्द और स्वाभाविक है, उसमें आख्यात-रूपों की प्रचुरता है, पदों की रुचि-कर पुनरुक्ति है और लम्बे-लम्बे समासों का प्रायः अभाव है। सूत्र-ग्रन्थों में तो वैदिक आर्यों ने एक ऐसी ठोस और गठीली गद्य-शैली का विकास किया जो एक साथ अतुल विस्तार और लघुतम सक्षेप की दृष्टि से संसार मे अनुपम है।

लौकिक संस्कृत-साहित्य में लेखकों और जनता की रुचि पद्य की ओर अधिक झुकी जान पड़ती है। गद्य की अपेक्षा पद्य की रचना सहज और कण्ठस्थ करने मे सुगम होने के कारण आयुर्वेद, ज्योतिष और गणित जैसे शास्त्रीय ग्रन्थ भी पद्य में लिखे गए। "गद्यं कवीनां निकषं

वदन्ति" (गद्य कवियों की कसौटी है), यह कहकर गद्य-रचना की क्लिष्टता की ओर संकेत किया गया। परिणामतः संस्कृत में गद्य का सीमित उपयोग दीख पड़ता है। संस्कृत गद्य शास्त्रीय और साहित्यिक इन दो रूपों में पाया जाता है। शास्त्रीय गद्य व्याकरण और दर्शन-ग्रन्थों तथा टीकाओं में प्रयुक्त हुआ है और साहित्यिक-गद्य कथा-कहानियों तथा आंशिक रूप में नाटकों में। शास्त्रीय गद्य का प्रथम उदाहरण पतंजलि का 'महाभाष्य' है जो गद्य की दृष्टि से एक अत्यन्त प्राञ्जल, परिष्कृत और मनोरम रचना है; उसके वाक्य छोटे-छोटे, विशद और सार-गर्भ हैं। शंकराचार्य के भाष्यों में भी शास्त्रीय गद्य का प्रसन्न-गम्भीर रूप देखने को मिलता है।

काव्यमय अथवा साहित्यिक गद्य का अवतरण स्पष्ट रूप से पतंजलि (द्वितीय शताब्दी ईसवी-पूर्व) से पहले हो चुका था। पतंजलि ने 'वासवादत्ता', 'सुमनोत्तरा' और 'भैमरथी' नाम की आख्यायिकाओं का उल्लेख किया है। भट्टार हरिचन्द्र नामक एक यशस्वी गद्याचार्य भी हुए थे, जिनकी मनोहर शैली और सुन्दर पद-रचना की बाणभट्ट ने प्रशंसा की है।[1] यद्यपि ये रचनाएँ आज उपलब्ध नहीं होतीं, तथापि इतना निश्चित है कि पतंजलि के बाद गद्य-लेखकों की दृष्टि अलंकारों और शब्दाडम्बरों—स्वभावोक्ति के बजाय वक्रोक्ति—की खोज में रहने लगी। इस प्रवृत्ति का एक नमूना १५० ई० में लिखे गए महाक्षत्रप रुद्रदामन् के शिलालेख में मिलता है, जो ३५० ई० के लगभग हरिषेण-कृत समुद्रगुप्त की प्रशस्ति में, जो प्रयाग के एक स्तम्भ पर उत्कीर्ण है, प्रौढ़ता को प्राप्त करता है। इस प्रशस्ति में उस आलंकारिक गद्य-शैली की पर्याप्त छटा मिलती है, जिसका पूर्ण विकास दण्डी, सुबन्धु और बाणभट्ट के गद्य-काव्यों में जाकर हुआ।

---

१ पदबन्धोज्ज्वलो हारी कृतवर्णक्रमस्थितिः।
भट्टारहरिचन्द्रस्य गद्यबन्धो नृपायते ॥ हर्षचरित

दण्डी

दण्डी का स्थितिकाल छठी शताब्दी का मध्यकाल था। उन्होंने 'काव्यादर्श' नामक एक अलंकार-शास्त्र के ग्रन्थ के अतिरिक्त 'दशकुमारचरित' और 'अवन्तिसुन्दरी कथा' नाम के दो गद्य-काव्य लिखे। इनमें से 'दशकुमारचरित' अधिक प्रसिद्ध है। 'अवन्तिसुन्दरी कथा' अपूर्ण है तथा उसे सर्वसम्मति से दण्डी की रचना भी नहीं माना जाता। 'दशकुमारचरित' को भी दण्डी ने आदि-अन्त लिखे बिना अधूरा ही छोड़ दिया था। बाद के लेखकों ने उसमे पूर्वपीठिका और उत्तरपीठिका जोड़ दी।

'दशकुमारचरित' मे, जैसा कि उसके नाम से ही स्पष्ट है, दस राजकुमार अपने पर्यटनों, अनुभवों और पराक्रमों का वर्णन करते हैं। दण्डी ने अपनी रचना मे उस परम्परा का उल्लंघन किया है जिसके अनुसार गद्य-काव्य में भी (जो कि काव्य का ही एक अवान्तर रूप है) किसी उदात्त विषय का प्रतिपादन होना चाहिए और उसका नायक भी शालीन, धीर एवं लोकातीत गुणों से सम्पन्न पुरुष होना चाहिए। इसीलिए दण्डी ने भारतीय समाज के निम्न स्तर का—मान, मद, मोह और मत्सर-मय जन-जीवन का—चित्रण किया है। उनकी कथाएँ जुआ, जादू-टोना, लूट-मार, हिंसा, छल-कपट, पर-स्त्री-हरण और अवैध प्रेम की झलकों से भरी पड़ी हैं। पाखण्डी साधु, दुश्चरित्र स्त्रियाँ, कामान्ध मनुष्य, रूपवती राजकुमारियाँ, मूर्ख राजा, हृदयहीन वेश्याएँ, धूर्त कुटनियाँ, कंजूस सेठ आदि अगणित जीते-जागते पात्र अपने अद्भुत व्यापारो से समस्त कृति को अतिशय रूप से सजीव, रसपूर्ण और मनोरंजक बना देते हैं। कामशास्त्र और नीतिशास्त्र के नियम इन कहानियो में मानो क्रियान्वित किये गए हैं। इष्ट-सिद्धि के लिए किसी साधन को अनुचित नहीं माना जाता है और उसके समर्थन मे शास्त्र-वचनों की दुहाई दी जाती है। अपहारवर्मन् चोरों का सरदार है, जो

कर्णीसुत मूलदेव-कृत चौर्यशास्त्र के अनुसार चोरी करता है, यद्यपि इसमे उसका उद्देश्य वेश्या से लुटे हुए एक भले आदमी की सहायता करना और नगर के कंजूसों को लूटना था। मंत्रगुप्त एक मूर्ख राजा को समुद्र मे स्नान करने के लिए इसलिए उकसाता है कि ऐसा करने से उसकी सुन्दरता बढ़ जायगी, फिर राजा को धोखे से मारकर वह उसकी जगह प्रकट होकर लोगों से कहता है कि भगवान् की कृपा से राजा का रूप बदल गया। हास्य की दृष्टि से भी 'दशकुमारचरित' एक अनूठी कृति है। दिगम्बर जैन, बौद्ध, ब्राह्मण, देवता और भिक्षुणियाँ चुभती हुई फबतियों और तीखे व्यग्य के शिकार बनते हैं। तपस्वी मारीचि और वेश्या काममजरी की कथा बड़ी विनोदपूर्ण है। काममजरी संयमी मारीचि ऋषि के पास जाकर तपस्या की साधना करने का स्वाँग रचती है और स्वयं उन्हे अपने कामपाश मे बाँधकर कहीं का नहीं रखती। तत्कालीन सामाजिक प्रथाओं का दण्डी मे पर्याप्त परिचय मिलता है। स्त्रियों की वेशभूषा तथा प्रसाधन-सम्बन्धी उल्लेख भी रोचक हैं। कदुक-क्रीड़ा स्त्रियों का प्रिय खेल था। राजकुमारी कन्दुकावती के कन्दुक नृत्य का सुन्दर वर्णन हुआ है।

संस्कृत गद्य के प्रयोग मे दण्डी सिद्धहस्त है। उनका उद्देश्य कथा-वर्णन करना था, वैचित्र्य-उत्पादन करना नहीं; इसलिए उनकी भाषा सरल और प्रवाहपूर्ण है, उसमे लम्बे लम्बे समास कम हैं तथा अलंकारों का भी बाहुल्य नहीं है। उनकी सरल और विशद शैली का उदाहरण उनके इस दुर्भिक्ष-वर्णन में मिलता है—"**क्षीणसारं सस्यं ओषधयो वन्ध्या न फलवन्तो वनस्पतय क्लीबा मेघा भिन्नस्रोतसः स्रवन्त्यः पंकशेषाणि पल्वलानि निःस्यन्दान्युत्समण्डलानि विरलीभूतं कन्दमूलफलं अवहीनाः कथा....**" अर्थात् जो थोड़ा-बहुत अन्न पैदा हुआ वह भी खोखला और सूखा निकला, जड़ी-बूटियाँ नीरस और प्रभावहीन पैदा हुई; पेड़ो पर फल आने बन्द हो गए; बादल सूखे और जलहीन दिखाई पड़े; नदियों के सोते ही सूख गये; तालाबों मे कीचड़-ही-कीचड़ रह

गया; झरने बहने बन्द हो गए, जंगलों में कंद-मूल-फल शायद ही कभी मिल पाते; बस्तियों मे कथा-वार्ता बन्द हो गई''।'

वर्णनात्मक स्थलों मे दण्डी अवश्य साहित्यिक अलंकरण में आ फँसते हैं, किन्तु यहाँ भी वह दुरूह और अरुचिकर नहीं हैं। दण्डी का पद-लालित्य दर्शनीय है। अपने कथानकों को उन्होंने इस प्रकार क्रम-बद्ध किया है कि वे सर्वथा सुसगठित होकर खिल उठे है। उनके सवादो मे वाक्पटुता और सूझ-बूझ की चटकीली उर्वरता है। सहज भावाभि-व्यक्ति उनके गद्य की आत्मा है। नारी का रूप-चित्रण उनका बड़ा सूक्ष्म और विलक्षण है। कामदेव को मात करने वाली एक रूपसी को सम्बोधित करते हुए वह कहते हैं—"सुन्दरी, वास्तव में तुमसे भगवान् कामदेव का भारी अपराध हुआ है, क्योंकि उनकी प्राणेश्वरी रति को तुमने अपने रूप-सौन्दर्य से नीचा दिखा दिया है। इतना ही नहीं, अपनी भौं रूपी बेल से तुमने कामदेव की कमान को, अपनी काली काली लटो की चमक से उनकी भ्रमर-पक्ति-रूपी धनुष की डोरी को, तिरछे कटाक्षों की वर्षा से उनके सारे अस्त्र-शस्त्रों को, ओठों के गुलाबीपन से उनकी केसरिया ध्वजा को, सुगन्ध-भरी साँसों से उनके मित्र मलय-पवन को, मिठास-भरी प्यारी बोली से उनकी कोयल को, लता-जैसी कोमल बाँहो से उनकी पुष्प पताका को, स्तन-युगल से उनके शुभ शकुन-रूप दोनों कलशों को, मनोहर नाभि से उनके क्रीडा-सरोवर को, नितम्ब-युगल से उनके साग्रामिक रथ को और अपनी सुन्दर जाँघों से उनके महल के रत्नजटित खम्भो को अपमानित कर डाला है।"

सुबन्धु

दण्डी के बाद गद्य-काव्यों को अलंकारों से बोझिल और आडम्बर-पूर्ण बनाने की प्रवृत्ति बढ़ती गई। अलंकार-शास्त्रियों ने यह सिद्धान्त स्थिर किया कि गद्य-काव्य का उत्कर्ष 'शब्द-विन्यास के सौष्ठव, वर्णन की प्ररोचना, अलंकारों की सुभगता, दीर्घ समस्त पदो की प्रयोग-चातुरी

वाक्यों के सहित विस्तार एवं ध्वनि और ध्वन्य के साटोप स्वनन और अवपतन में निगूढ़' है। इस कोटि के गद्य-काव्य की छटा सुबन्धु-कृत 'वासवदत्ता' में मिलती है। सुबन्धु छठी शताब्दी के अन्त में हुए थे। उन्होंने दण्डी की प्रासादिक, सुभग और मनोहर वैदर्भी शैली के स्थान पर अनुप्रास, श्लेष, अतिशयोक्ति और समास-प्रधान गौड़ी शैली को अपनाया। प्रतिपाद्य विषय—कथानक और चरित्र-चित्रण—की अपेक्षा उन्होंने प्रतिपादन के बाह्य उपकरणों पर अधिक ध्यान दिया। 'वासवदत्ता' का कथानक अत्यन्त लघु है। राजकुमार कन्दर्पकेतु स्वप्न में एक सुन्दरी राजकुमारी को देखकर उसी की खोज में निकल पड़ता है और अनेक आपत्तियों को पार करता हुआ अन्त में उसे पा लेता है। इस कथानक को सुबन्धु ने विषयान्तरों के बाहुल्य, पाण्डित्य के प्रदर्शन, शब्दों के कौशल, पुराणों के संकेत तथा श्लेषों के प्रयोग से अलंकृत कर क्लिष्टता, विचित्रता और कृत्रिमता की एक भूल-भुलैयाँ खड़ी कर दी है। बाण ने सुबन्धु के लिए यह दावा किया है कि उनके प्रत्येक शब्द में श्लेष है। एक सीमा तक सुबन्धु के श्लिष्ट (दो अर्थों वाले) प्रयोग आकर्षक हैं, किन्तु मात्रातीत प्रयोग से पाठक उनके बीच खो-सा जाता है और रसास्वादन से वंचित रह जाता है। उनकी श्लेषमयी शैली का एक नमूना देखिए—"**रेवतीकरपल्लव इव हलधृतिकर, लंकेश्वर इव समेघनाद:, विन्ध्य इव घनश्याम:, युवतिजन इव पीनपयोधर. समाजगाम वर्षासमय:।**" अर्थात् 'उस वर्षा-काल का आगमन हुआ, जो हल चलाने वाले किसानों को वैसा ही आनन्द प्रदान करता है जैसा हल-धारी बलराम को अपनी पत्नी रेवती का पत्ते-जैसा कोमल हाथ पकड़ने से होता है, जो मेघों की गर्जना से वैसे ही युक्त है जैसे रावण अपने पुत्र मेघनाद से; जो काले बादलों के कारण उन कृष्ण के समान लगता है जिनका वर्ण मेघों-जैसा श्याम है; जो घने मेघों (पयोधरों) से पूर्ण होने के कारण उन युवती स्त्रियों की तरह प्रतीत होता है, जो भारी उरोजों (पयोधरों) से युक्त होती है।'

श्लेषों के अतिरिक्त विकट समास भी जहाँ-तहाँ पाठक को हतश्रम कर देते हैं। रेवा के वर्णन में कैसा क्लिष्ट, दीर्घकाय समास प्रयुक्त हुआ है—'**मदकलकलहंससारसरसितोद्भ्रान्तभाकूटविकटपुच्छच्छटाव्याधूतविकलकमलखण्डविगलितमकरन्दबिन्दुसन्दोहसुरभितसलीलया—**" इस समस्त पद का अर्थ यह हुआ कि नर्मदा का जल खिले हुए कमलखण्डों के मकरन्द की अनेक बूँदों के गिरने से सुरभित हो गया था, ये कमल मछलियों की विकट पूँछों से झकझोर दिये गए थे; और ये मछलियाँ मदमाते हंसों और सारसों के अस्पष्ट चहकने से भ्रमित-चित्त हो गई थीं।

बाण भट्ट

सुबन्धु के वैचित्र्यपूर्ण गद्य और दण्डी के सरल गद्य के बीच बाण भट्ट ने एक मध्यम मार्ग चुना और दोनों का समन्वय करने वाली एक ऐसी आदर्श गद्य-शैली की प्रस्थापना की, जिसमें विषयक की नवीनता, सुरुचिपूर्ण स्वभावोक्ति, सरल श्लेष, स्पष्ट रूप से हृदयंगम होने वाला रस तथा विकट शब्द-योजना (अक्षराडम्बर) का पंचामृत प्रस्तुत हो। इस शैली की अवतारणा बाण ने अपने दो सुप्रसिद्ध गद्य-काव्यों—'हर्ष-चरित' और 'कादम्बरी'— में की है।

बाण के कथनानुसार 'हर्षचरित' आख्यायिका है और 'कादम्बरी' कथा। आख्यायिका में ऐतिहासिक आधार होना चाहिए, पर कथा कल्पना-प्रसूत होती है। 'हर्षचरित' के प्रारम्भ के ढाई अध्यायों में बाण ने अपने जीवन की कुछ झाँकियाँ दी हैं और फिर अपने समकालीन महाराजा हर्षवर्धन (६०६-६४८ ई०) के जीवन, उनके व्यक्तित्व तथा कतिपय सम्बन्धित घटनाओं और व्यक्तियों का वर्णन किया है। वर्णन की आलंकारिक और कल्पना-प्रचुर शैली के कारण 'हर्षचरित' विशुद्ध ऐतिहासिक ग्रन्थ नहीं कहा जा सकता। इस शैली का उदाहरण हर्ष की इस शपथ में मिल जाता है, जो उन्होंने अपने बड़े भाई प्रभाकरवर्धन के एक गौड़ राजा के हाथों मारे जाने पर खाई थी—"**शपाम्यार्यस्यैव**

पादपांसुस्पर्शेन यदि परिगणितैरेव वासरैः सकलचापचापलदुर्ललितनरपतिचरणरणरणायमाननिगडां निर्गौडां न करोमि मेदिनी ततस्तनूनपाति पीतसर्पिषि पतंगा इव पातकी पातयाम्यात्मानम्" अर्थात् 'पिताजी, आपके चरणों की धूल की शपथ खाकर मैं यह प्रतिज्ञा करता हूँ कि यदि मैं इने-गिने दिनों के भीतर ही पृथ्वी को गौड राजा से रहित न कर दूँ और अपने धनुषों की चपलता से गर्वीले बने राजाओं के पैरों में पड़ी बेड़ियों से झंकृत न कर दूँ तो मैं पापी की तरह अपने-आपको आग में वैसे ही झोंक दूँगा जैसे तेल के दीपक में पतंगे गिर जाते हैं।' इस प्रकार काव्यमय होने पर भी 'हर्षचरित' का ऐतिहासिक महत्त्व कम नहीं है। हर्ष के समकालीन चीनी यात्री ह्वेनसांग के यात्रा-विवरण से 'हर्षचरित' की घटनाएँ मेल खाती हैं। बाण के सूक्ष्म और ब्यौरेवार वर्णनों से ह्वेनसांग के विवरण की सच्चाई परखने में सहायता मिलती है। इसके अतिरिक्त कला, धर्म, दर्शन, राजनीति, आचार, विचार आदि की दृष्टि से बाण ने सांस्कृतिक महत्त्व की अमूल्य सामग्री प्रस्तुत की है, जिसका डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने अपने 'हर्षचरित, एक सांस्कृतिक अध्ययन' नामक ग्रन्थ में विस्तृत विवेचन किया है।

'कादम्बरी' में चन्द्रापीड और कादम्बरी की प्रणय-कथा संस्कृत भाषा के समस्त वैभव, गौरव और कौशल के साथ वर्णित है। बाण ने उसका पूर्वार्ध-मात्र लिखा था, उत्तरार्ध की रचना उनके पुत्र ने उन्हीं की शैली में की। 'दशकुमारचरित' की भाँति 'कादम्बरी' में भी कवि ने कथा और उपकथा का पर्याप्त कुशलता से निर्वाह किया है। विशद चरित्र-चित्रण, वर्णन-प्रतिभा, भाषा-समृद्धि और मानव-भावों के सूक्ष्म और मार्मिक अंकन में 'कादम्बरी' संस्कृत का सर्वोत्कृष्ट गद्य-काव्य है। उसमें बाण के बहुमुखी जीवन के विविध अनुभव साकार हो उठे हैं; उस युग के नगर, उद्यान, राजपथ, अन्तःपुर, हाट-बाजार, कला कौशल, धर्म और विश्वास बाण की सौन्दर्य-पारखी तूलिका से मूर्तिमान् होकर प्रकट हुए हैं। शब्द और अर्थ का ऐसा विमल सामञ्जस्य करने वाला

दूसरा ग्रन्थ संस्कृत-साहित्य में दुर्लभ है।

बाण वर्णनात्मक शैली के धनी हैं। उनकी भाषा एक बार प्रवाहित होकर मानो थकना या रुकना नहीं जानती। उनकी प्रतिभा अकृपणा है—अपने वर्ण्य-विषय को महिमा और सौन्दर्य से मंडित करने में वह श्लेषों की झड़ी बाँध देंगे, विरोधाभास की धारा बहा देंगे और श्लिष्ट उपमाओं तथा यमक और अनुप्रास का जंगल ही लगा देंगे। किन्तु साथ-ही-साथ एक चतुर शिल्पी की तरह बाण इस बात का ध्यान रखते हैं कि उनके वर्णन बोझिल न हो जायँ। एतदर्थ उन्होंने दीर्घ समास वाली, अल्प समास वाली और समास-रहित इन तीन प्रकार की शैलियों का उपयोग किया है। राजवैभव, नारी-सौन्दर्य या प्राकृतिक भव्यता के चित्रण में प्रथम शैली, भाव-प्रधान, गम्भीर और मार्मिक विषय के विवेचन में दूसरी शैली तथा उपदेश या शिष्टाचार के अवसर पर तीसरी शैली का व्यवहार किया है।

अब बाण की गद्य-शैली के कुछ नमूने देखिए। तपस्विनी महाश्वेता के गौरवर्ण का आभास कराने के लिए एक-से-एक बढ़कर उपमाओं की कैसी लड़ी लगा दी गई है—"शुक्लपक्षपरम्परामिव पुंजीकृता, शंखादिवोत्कीर्णा, मृणालैरिव विरचितावयवा, दन्ततलैरिव घटिता, इन्दुकरकूर्चकैरिव प्रक्षालिता, अमृतफेनपिण्डैरिव पाण्डुरीकृता"—महाश्वेता मानो उजले पक्ष की परम्पराओं का ढेर हो, शंख से खरोचकर निकाली गई हो, कमल की नाल से उसके अवयव रचे गए हों, दाँतों की धवल पंक्ति से उसका निर्माण किया गया हो, चन्द्रमा की किरणों से बने झाड़ू से उसे झाड़ा गया हो, अमृत के झागों के गोलों से उसे सफ़ेद बनाया गया हो।

'कादम्बरी' का प्रथम वाक्य ही बाण के वर्णन की भव्यता को प्रकट कर देता है—

एकदा तु नातिदूरोदिते नवनलिनदलसम्पुटभिदि किंचिदुन्मुक्तपाटलिम्नि भगवति सहस्रमरीचिमालिनि राजानमास्थानमण्डपगतमंगना-

जनविरुद्धे न वामपार्श्वावलम्बिना कौक्षेयकेण संनिहितविषधरेव चन्दनलता-भीषणरमणीयाकृतिः, अविरलचन्दनानुलेपन धवलितस्तनतटोन्मज्जदैरावनकुम्भमण्डलेव मन्दाकिनी, चूडामणिप्रतिबिम्बच्छलेन राजाज्ञेव मूर्तिमती राजभि शिरोभिरुह्यमाना, शरदिव कलहंसधवलाम्बरा, जामदग्न्यपरशुधारेव वशीकृतसकलराजमण्डला, विन्ध्यवनभूमिरिव वेत्रलतावती, राज्याधिदेवतेव विग्रहिणी प्रतीहारी समुपसृत्य क्षितितलनिहितजानुकरकमला सविनयमब्रवीत् ।

अर्थात् 'एक दिन, जबकि हजारो किरणों वाले भगवान् सूर्य, कमल की नई कलियों के सम्पुट फोड़कर खोलते हुए और अपनी लालिमा कुछ-कुछ उद्घाटित करते हुए, आकाश मे अधिक ऊँचे नहीं उठे थे, राजसभा मे विराजमान महाराज शूद्रक के पास एक प्रतीहारी (स्त्री द्वारपाल) आई और भूमि पर घुटने और कमल के-से हाथ टेककर विनयपूर्वक बोली। उसने बाईं ओर अपने स्त्रीत्व से मेल न खाने वाली एक तलवार लटका रखी थी, इसलिए उसका सुन्दर और भयानक शरीर साँप से लिपटी हुई चन्दन-लता के समान दिखाई देता था। स्नान के बाद जल से ऊपर निकलते हुए ऐरावत हाथी के कुम्भ जिसके जल में दिखाई पड़ रहे है, ऐसी आकाश-गंगा के समान उसके शरीर के गाढ़े चन्दन से लिप्त स्तन-द्वय ऐरावत हाथी के कुम्भद्वय के समान प्रतीत होते थे। सामन्त राजाओ के मस्तक पर लगी हुई मणि मे उसका प्रतिबिम्ब पड़ रहा था, अतः ऐसा लगता था मानो इन्होने उसे मर्तिमती राजाज्ञा की तरह अपने सिर पर धारण कर रखा हो। हंस का-सा श्वेत वस्त्र धारण किये हुए वह उस शरद् ऋतु के समान लगती थी जिसमे श्वेत हंसो से आकाश धवल मालूम देता है। उसने सभी एकत्र राजाओं को वश मे कर रखा था और इस प्रकार वह परशुराम के फरसे की उस धार की तरह जान पड़ती थी जिसने समस्त राजाओ को अपने अधीन कर लिया था। वह बेंत की छड़ी हाथ मे लिये थी, जिससे उस विन्ध्य-भूमि का ध्यान हो जाता था जहाँ बेत के वृक्ष अधिकता से होते हैं। वह मानो शरीरधारिणी राज्य

लक्ष्मी ही थी।'

बाण ने चन्द्रोदय का वर्णन करते हुए सिंह का उपमान दिया है—

शशिकेसरीविदार्यमाण तम करिकुम्भसम्भवेन मुक्ताफलक्षोदेनेव धवलतामुपनीयमानमुदयगिरिसिद्धसुन्दरीकुचधूलेन चन्दनचूर्णरागिनेव पाण्डुरीक्रियमाणम्।

इसकी तुलना 'रामचरितमानस' के निम्नलिखित वर्णन से करने पर कितना सादृश्य दिखाई देता है—

पूरब दिसि गिरि गुहा निवासी। परम प्रताप तेज बल रासी॥
मत्त नाग तम कुम्भ बिदारी। ससि केसरी गगन बन चारी॥
बिथुरे नभ मुकुताहल तारा। निसि सुन्दरी केर सिंगारा॥

इसी प्रकार, कटाक्ष-पातों से समस्त पृथ्वी के चलते-फिरते श्वेत कमलों से परिपूर्ण कर देने की बाण की उत्प्रेक्षा (अपांगविक्षेपैश्चलित-कुवलयवनमयीमिव क्रियमाणामवनीम्) को तुलसीदासजी ने इस प्रकार व्यक्त किया है—

जहाँ बिलोकि मृगसावक नयनी। जनु तहँ बरिस कमल सित स्रयनी॥

बाणभट्ट संस्कृत गद्य-काव्य के उत्कर्ष के सूर्य थे, जिनके बाद की रचनाएँ उनसे बहुत प्रभावित हुईं। धनपाल (१००० ई०) की 'तिलक मजरी', वादीभसिंह (१००० ई०) की 'गद्य चिन्तामणि' तथा वामनभट्ट बाण (१५०० ई०) के 'वेमभूपालचरित' में बाण का स्पष्ट अनुकरण और प्रभाव लक्षित है। आधुनिक युग मे संस्कृत का लोकसामान्य मे चलन न रह जाने पर भी हृषीकेश भट्टाचार्य और अम्बिकादत्त व्यास-जैसे कतिपय विद्वानों ने संस्कृत गद्य में संदर्भ-रचना का स्तुत्य प्रयास किया है; किन्तु इन सभी की रचनाओं में बाण का ही अनुकरण मुँह उठाये बैठा दीख पड़ता है, और यही कारण है कि वे संस्कृत गद्य को लोक-सम्पर्क मे लाने मे असमर्थ रहे। आज संस्कृत को अनुप्राणित करने के लिए उसके गद्य को लघु, सरल एवं व्यावहारिक बनाने की आवश्यकता है।

चम्पू

जिन काव्यों में गद्य-पद्य का मिला-जुला प्रयोग किया जाता है उन्हें संस्कृत-साहित्य में चम्पू की संज्ञा दी गई है। दण्डी ने अपने 'काव्यादर्श' मे चम्पू की परिभाषा दी है। हरिषेण की प्रशस्ति गद्य-पद्य में रचित है। गद्य-काव्यों में भी भूले-भटके पद्यों का प्रयोग मिल जाता है। 'महाभारत', 'विष्णुपुराण' तथा 'भागवत' में भी कहीं गद्य-पद्यमय स्थल मिलते हैं। किन्तु चम्पू के नाम से वे ही कृतियाँ अभिहित होती हैं, जो गद्य पद्य दोनो का समान रूप से प्रयोग करती हों और जिन पर काव्य के लक्षण पूरी तरह से घटित होते हों। यो तो नीति-कथाओ में भी गद्य और पद्य दोनो का उपयोग किया जाता है, किन्तु जहाँ उनमे पद्य एक विशिष्ट प्रयोजन से—किसी कथन की पुष्टि में अथवा किसी शिक्षा के सार के रूप मे—प्रयुक्त होते हैं, वहाँ चम्पू-काव्यो मे पद्य कथा-प्रवाह में अनायास, बिना किसी प्रयोजन-विशेष के, समाविष्ट हो जाते हैं। चम्पू मे गद्य-पद्य दोनो घुले-मिले रहते हैं और कथानक के वैसे ही अंगभूत होते हैं जैसे सगीत मे गीत और वाद्य। एकमात्र गद्य अथवा पद्य के प्रयोग से होने वाली नीरसता को मिटाने में चम्पू-शैली बड़ी सफल, रमणीय और लोक-प्रिय सिद्ध होती है।

उपलब्ध संस्कृत साहित्य मे ९१५ ई० के त्रिविक्रम भट्ट-रचित 'नल-चम्पू' अथवा 'दमयन्तीकथा' के पहले का कोई चम्पू-काव्य प्राप्त नहीं होता; पर चम्पू-शैली का जो प्रौढ और पेशल रूप उसमें दृष्टिगत होता है उससे स्पष्ट है कि इस गद्य-पद्यमयी शैली का कवियों मे बहुत पहले से व्यवहार होता रहा होगा। गद्य-पद्य दोनो में त्रिविक्रम भट्ट ने सुबन्धु की तरह श्लेष का बहुल प्रयोग किया है, पर वह उतना क्लिष्ट नहीं है। धारा के प्रसिद्ध राजा भोज (१०१८-६३ ई०) ने 'रामायण-चम्पू' की रचना की, जिसकी विशेषता उसका माधुर्य एवं उक्ति-चातुर्य है। अनन्त भट्ट के 'भारतचम्पू' मे 'महाभारत' की कथा वर्णित है।

इसमे ऐसी विचित्र अतिशयोक्तियाँ पाई जाती हैं, जिनसे संस्कृत का पाठक अभ्यस्त नहीं है। उदाहरणार्थ, एक नगर का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि वहाँ के भवन इतने ऊँचे थे कि चन्द्रमा को उनकी ऊपरी मंजिल की खिड़कियों में से होकर गुजरना पड़ता था और ऐसा करने में उसका मुँह चिमनियों के धुएँ की कालिख से पुत जाता था। ग्यारहवीं शती मे सोड्ढल नामक गुजराती कवि ने 'उदयसुन्दरीकथा' लिखी, जिसमें प्रतिष्ठान के राजा मलयवाहन और राजकुमारी उदयसुन्दरी के प्रेम और विवाह की गद्यपद्यात्मिका कथा वर्णित है। सोलहवीं शती के कवि जीव गोस्वामी-कृत 'गोपालचम्पू' मे श्रीकृष्ण की बाल लीलाओं का अभिराम वर्णन है। कालिय नाग के विष से वीरान बने यमुना-तट पर एक विकसित कदम्ब वृक्ष को देखकर बालकृष्ण के मन मे विस्मय और कौतूहल जगता है—

अहो वयस्याः। पश्यथ····सोऽयं पुनर्गरुत्मत्कृतामृतसेक एक एव कालकूटज्वालयापि कृतालम्बः कदम्ब. सुललितदलादितया लालसीति। तस्मादस्योपरि कोटरपिठरे स्फुटं तदनवद्यममृतमद्यापि विद्यत इति प्रसह्याहमारुह्य पश्यामि। भवन्तस्तु गाः किंचिद् दूरचरतया चारयन्तश्चरन्तु।

अर्थात् 'मित्रो, अरे देखो, इस सर्प की कालकूट ज्वाला के सम्पर्क में भी यह अकेला कदम्ब अत्यन्त सुन्दर पल्लव आदि से विभूषित होकर कैसा चमक रहा है! इसका कारण बताऊँ? अच्छा सुनो, गरुड़ द्वारा अमृत ले जाते समय इस पर भी अमृत के छींटे पड़ गए थे! मुझे ऐसा लगता है कि उसी कारण से आज भी इस वृक्ष के ऊपर के कोटर में वह विशुद्ध अमृत सुरक्षित पड़ा है। मेरी तो इच्छा है कि साहसपूर्वक मैं इस कदम्ब पर चढ़ जाऊँ और देखूँ तो सही कि वहाँ उस कोटर में सचमुच अमृत है या नहीं। हाँ, तुम लोग यहाँ से कुछ दूर हटकर गो-चारण करते हुए विचरो।'

अन्य चम्पू-काव्यों में कवि कर्णपूर का 'आनन्दवृन्दावनचम्पू',

दक्षिण की रानी तिरुमलाम्बा का 'वरदाम्बिकापरिणयचम्पू', वेंकटाध्वरि का 'विश्वगुणादर्शचम्पू' आदि उल्लेखनीय हैं।

कहानियाँ

संस्कृत का कहानी-साहित्य भी अधिकाश गद्य मे है। रोचकता, मौलिकता एवं विश्व-व्यापकता की दृष्टि से वह ससार मे बेजोड़ है। उसमें परम्पराभुक्त पात्रो का चित्रण न होकर जन-जीवन का सजीव अंकन प्राप्त होता है। संस्कृत की प्राचीन कहानियाँ दो रूपो में पाई जाती हैं—एक तो नीति या उपदेश की कहानियाँ और दूसरी मनोरञ्जक कहानियाँ। नीति-कथाओ के मुख्य पात्र पशु-पक्षी होते हैं और मनोरञ्जक कहानियो के पात्र मनुष्य। दोनों में प्रधान कथा के अन्तर्गत अवान्तर कथाओं का समावेश करने की परिपाटी का बहुत अवलम्बन लिया गया है।

पशु-पक्षियों का उदाहरण देकर शिक्षाप्रद बाते कहने की प्रवृत्ति भारतीय साहित्य मे बहुत प्राचीन है। उपनिषदो तथा 'रामायण'-'महाभारत' मे कई पशु-पक्षियों की कहानियाँ उपदेश देने के हेतु कही गई हैं। तीसरी शताब्दी ई० पू० के भरहुत के स्तूप पर अनेक नीति-कथाओं के नाम अंकित हैं। पतञ्जलि के 'महाभाष्य' से भी नीति-कथाओ का प्रचार सूचित होता है।

नीति-कथाओ का प्राचीनतम सग्रह ३०६ ई० के लगभग रचित विष्णु शर्मा का 'पचतंत्र' तो लुप्त हो गया है, किन्तु उसके आधार पर थोड़े बहुत हेर-फेर के साथ रचे गए आठ संस्करण उपलब्ध होते हैं, जिनका तुलनात्मक अध्ययन करके अमरीकी विद्वान् डॉ० एजर्टन ने 'पञ्चतंत्र' का एक प्रामाणिक संस्करण तैयार किया है, जिसे 'पुनर्घटित पंचतंत्र' कहा जाता है। 'पचतंत्र' में मित्र-भेद, मित्र-सम्प्राप्ति, काकोलूकीय, लब्धप्रणाश और अपरीक्षितकारक नाम के पॉच तत्र या भाग हैं। प्रत्येक भाग मे मुख्य कथा एक है, जिसे परिपुष्ट करने के लिए गौण कथाएँ कही गई हैं। ये उप-कथाएँ स्वतन्त्र रूप से भी पढ़ी-समझी जा सकती हैं।

'पंचतंत्र' में पशु-पक्षियों की रोचक कहानियों द्वारा व्यवहार-कुशलता, सदाचार और राजनीति का उपदेश दिया गया है। पशु-प्रधान होने पर भी उनमें मानव-प्रकृति की उपेक्षा नहीं की गई है। लोभ, पाखण्ड, कपट और त्रिया-चरित्र का भण्डाफोड़ करने वाली भी कई कहानियाँ हैं। वर्णनात्मक स्थलों में गद्य का प्रयोग हुआ है, जबकि उपदेश या कथा-सार पद्य में दिया गया है। ये पद्य प्राचीन ग्रन्थों से लिये गए जान पड़ते हैं। सरल मुहावरेदार भाषा, अनुरूप शब्दावली, अनूठी कथन-प्रणाली, संक्षिप्त अर्थ-गर्भित वाक्य-विन्यास और कथाओं का संगठित ठाट—ये विशेषताएँ 'पचतत्र' को एक उत्कृष्ट और कलापूर्ण कृति बना देती हैं। नोक-झोंक-भरे सवादों तथा ओजःपूर्ण प्रसंगों ने उसमें सजीवता का संचार कर दिया है। साहित्यिक सौन्दर्य की दृष्टि से भी वह एक श्रेष्ठ रचना है। 'पचतत्र' के पद्य चोखे, नुकीले और पैने हैं—

यदशक्य न तच्छक्य यच्छक्यं शक्यमेवतत् ।
नोदके शकटं याति न नावा गम्यते स्थले ॥

'जो शक्य है वही सम्भव हो सकता है और जो असम्भव है वह कैसे किया जा सकता है! गाड़ी पानी पर नहीं चल सकती और न नाव ज़मीन पर।'

शशदिवाकरयोर्ग्रहपीडनं
गजभुजंगमयोरपि बन्धनम् ।
मतिमतां च निरीक्ष्य दरिद्रतां
विधिरहो बलवानिति मे मतिः ॥

'जब मैं सूर्य और चन्द्रमा तक को ग्रहण से पीड़ित देखता हूँ, हाथियों और साँपों को बाँधे जाते देखता हूँ तथा बुद्धिमान् पुरुषों को भी दरिद्रता से ग्रस्त पाता हूँ तब मुझे भाग्य की प्रबलता को मान ही लेना पड़ता है।'

'पंचतन्त्र' संसार की सबसे अधिक अनूदित पुस्तकों में से एक है। ५५० ई० के लगभग उसका ईरान की प्राचीन भाषा पहलवी में अनुवाद

हो चुका था। इस पहलवी अनुवाद का आठवी शती में अब्दुल्ला-इब्न-उल् मुकफ्फा ने अरबी मे अनुवाद किया। इस अनुवाद का नाम 'कलीलह और दिननह' था, जो 'पंचतन्त्र' के करटक और दमनक नाम के दो सियारो का रूपान्तर है। इस अरबी अनुवाद के आधार पर 'पंचतन्त्र' का यूरोप की प्रायः सभी भाषाओं—यूनानी, स्लाव, डच, लैटिन, इटालियन, जर्मन, स्पैनिश, हीब्रू, डैनिश, अंग्रेजी, आइसलैंडी, तुर्की आदि—मे अनुवाद हुए। कहते हैं, भारत से बाहर 'पंचतन्त्र' के ४० भाषाओं मे २५० विविध सस्करण निकल चुके हैं। भारत मे भी 'पंचतन्त्र' १५ प्रादेशिक भाषाओं मे अनूदित हो चुका है। उसका एक हिन्दी-अनुवाद १०३० ई० मे ही अरबी यात्री अलबेरुनी को ज्ञात था।

उपदेशपूर्ण कथाओ का एक अधिक प्रचलित सकलन 'हितोपदेश' है। उसकी रचना बॅगला के नारायण पण्डित ने १००० ई० और १३०० ई० के बीच की थी। 'हितोपदेश' की ४३ मे से २५ कहानियाँ 'पचतन्त्र' से ही ली गई हैं। मित्र-लाभ, मित्र-भेद, विग्रह और सन्धि इन चार भागो मे ये कहानियाँ विभक्त है। 'हितोपदेश' में 'पंचतन्त्र' की अपेक्षा पद्यो का प्रयोग अधिक हुआ है। 'हितोपदेश' सस्कृत के प्रारम्भिक छात्रों के लिए लिखा गया था, अतः उसकी भाषा सरल और सुबोध रखी गई है।

मनोरंजक कहानियों के तीन पद्यमय संग्रह मिलते हैं— नेपाल के बुद्धस्वामी का 'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह' (६०० ई०), क्षेमेन्द्र की 'बृहत्कथामंजरी' तथा सोमदेव का 'कथासरित्सागर'। क्षेमेन्द्र और सोमदेव ११वी शताब्दी के समकालीन कश्मीरी कथाकार थे। इन तीनो संग्रहों का मूल आधार पैशाची प्राकृत में रचित गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' (७८ ई०) है, जो अब उपलब्ध नही है।

'वेतालपंचविंशतिका' में एक भूत उज्जैन के राजा विक्रम को पहेलियो के रूप में २५ मनोरंजक कहानियाँ कहता है। उसके दो संस्करण मिलते हैं—शिवदास-कृत गद्य-पद्यात्मक सस्करण (१२०० ई०)

और जम्भलदत्त-कृत पद्यात्मक संस्करण। 'वेतालपंचविंशतिका' की कई कहानियाँ विश्व के कथा-साहित्य का अग बन चुकी हैं। ११वीं शताब्दी की 'सिंहासनद्वात्रिंशिका' ('द्वात्रिंशत्पुत्तलिका' अथवा 'विक्रम चरित') गद्य, पद्य और गद्य पद्य-मय इन तीनों रूपों मे पाई जाती है। उसमें राजा विक्रम के सिंहासन की ३२ पुतलियाँ राजा भोज से एक-एक कहानी कहकर उड जाती हैं। इन कहानियों का १५७४ ई० में फारसी मे अनुवाद हुआ था। स्यामी, मंगोल तथा भारत की प्रान्तीय भाषाओं में उनके अनेक रूपान्तर पाये जाते है। 'शुकसप्तति' में एक तोते के मुँह से ७० कहानियाँ कहलाई गई है। उसका १४वीं शताब्दी में 'तूतिनामेह' के नाम से फ़ारसी मे अनुवाद हुआ था, जिसके द्वारा कई भारतीय कहानियाँ पश्चिमी एशिया और यूरोप मे प्रचलित हो गई। सिन्दबाद जहाजी की कहानी बहुत-कुछ 'शुकसप्तति' से मिलती-जुलती है। १५वीं शताब्दी की विद्यापति-रचित 'पुरुषपरीक्षा' मे ४४ नैतिक और राजनीतिक कहानियाँ सगृहीत हैं। १६वीं शताब्दी के बल्लालसेन के 'भोजप्रबन्ध' मे संस्कृत के विभिन्न समय मे हुए महाकवियों को सम-कालीन बनाकर उनकी स्पर्धा की रोचक दन्तकथाएँ दी गई हैं।

: ८ :

शास्त्रीय साहित्य

संस्कृत के अधिकाश शास्त्रीय अथवा वैज्ञानिक साहित्य का उद्गम धार्मिक क्रिया-कलापों मे हुआ। वैदिक मन्त्रों के स्वाध्याय से स्वर, व्याकरण और छन्द-सम्बन्धी गवेषणाओं ने जन्म लिया। भारत का आस्तिक दर्शन तो धर्म से कभी विलग हुआ ही नहीं। वैदिक कर्मकाण्ड मे नक्षत्रो के अवलोकन से खगोल-विद्या का प्रादुर्भाव हुआ। यज्ञ-वेदी के निर्माण मे माप आदि के नियमों का पालन करना पड़ता था, जिससे ज्यामिति अथवा रेखागणित का विकास हुआ। अथर्ववेद के कई मन्त्रो मे चिकित्सा-शास्त्र के बीज निहित हैं। हाँ, अलंकार-शास्त्र, अर्थ-शास्त्र, काम-शास्त्र-जैसी कतिपय शास्त्रीय शाखाओ ने धर्म से स्वतन्त्र होकर भी अपना विकास किया।

आरम्भ मे इस शास्त्रीय साहित्य की रचना सूत्रात्मक गद्य-शैली में हुई, जिसमें मुख्यतः संज्ञाओं और समासों का ही आधिक्य होता है और क्रिया-पद लुप्त रहते हैं। थोड़े शब्दो में विपुल अर्थ का सन्निवेश करने के लिए यह शैली बड़ी उपादेय सिद्ध हुई। व्याकरण-ग्रन्थों, अलंकार-शास्त्र, दर्शन-ग्रन्थों तथा अर्थ-शास्त्र में ऐसी शैली विशेष रूप से दिखाई

पड़ती है। इन सूत्रात्मक गद्य-ग्रन्थों के स्पष्टीकरण के लिए भाष्यो (टीकाओं) की रचना आवश्यक हुई। बाद मे अधिकाश शास्त्रीय ग्रन्थ अनुष्टुप् श्लोकों मैं रचे गए। कुछ ग्रन्थो मे गद्य-पद्य दोनों का प्रयोग भी हुआ।

सस्कृत शास्त्रो की उत्पत्ति विद्वानो की परिषदो मे हुई, जिनमे शास्त्रार्थ (विवाद) का आश्रय लेकर किसी सिद्धान्त का खण्डन मण्डन किया जाता था। फलस्वरूप शास्त्रीय, विशेषकर दार्शनिक साहित्य मे तर्क-प्रधान शैली का बहुत साक्षात्कार होता है, जिसमे पूर्वपक्ष के रूप मे प्रतिपक्ष का दृष्टिकोण उपस्थित करके सिद्धान्त-पक्ष की ओर से उसका निराकरण किया जाता है। इसके साथ-साथ, प्रस्तुत विषय के भेदोपभेद करके उसमे सूक्ष्म अन्तर स्थापित करने की प्रवृत्ति भी शास्त्रो मे बहुत दिखाई देती है।

शुष्क और बौद्धिक विषयों का प्रतिपादन करने के कारण शास्त्रो मे नीरसता का आ जाना स्वाभाविक है, पर शास्त्रकारो ने अपनी सजीव विवाद-प्रधान शैली द्वारा तथा घरेलू दृष्टान्तो और उपमाओ के प्रयोग द्वारा उनमें सरसता का संचार करने की चेष्टा की है। विभिन्न प्रकार के 'न्याय' (सादृश्यमूलक शाश्वत तथ्य) संस्कृत के शास्त्रों की ही देन है। सम्पूर्ण आत्मसमर्पण के लिए 'तृणभक्षण न्याय', सायोगिक कारण के लिए 'काकतालीय न्याय', एक के आधार पर शेष की परीक्षा के लिए 'स्थालीपुलाक न्याय', 'एक पन्थ दो काज' के लिए 'देहली-दीप न्याय' आदि आज भी बोल-चाल और लेखन-भाषण मे प्रयुक्त होते रहते है। अपने कार्य मे सलग्न न रहने वाले की स्थिति गरम जगह पर खड़े नेवले की-सी बताई गई है (अवतप्ते नकुलस्थितिम्)। यदि नियम बनाने वाला ही नियम-भंग करने लगे तो क्या वह उस अश्वारोही के समान नहीं जो अपने अश्व को ही भूल बैठे ?—"अश्वारूढाः कथं चाश्वान् विस्मरेयुः सचेतनाः ?" पैरों से भागने में समर्थ व्यक्ति के लिए घुटनो से रेंगना शोभा नहीं देता—"**नहि पद्भ्यां पलायितुं पारयमाणो जानुभ्यां रंहि-**

तुमर्हति।" इस प्रकार के प्रयोगो से शास्त्रो के शुष्क कलेवर में रोचकता आ गई है।

व्याकरण

भारतीयो ने व्याकरण को सब शास्त्रो मे सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया है। प्रत्येक प्रकार के अध्ययन की वह आधार-शिला है। विश्व मे अन्यत्र कहीं भी शब्द-शास्त्र का इतनी सूक्ष्मता से अन्वेषण नहीं किया गया। संस्कृत वैयाकरणो ने ही सर्वप्रथम शब्द-रूपो का विश्लेषण किया, धातु और प्रत्यय का अन्तर स्वीकार किया, प्रत्ययो के कार्य-व्यापार को निर्धारित किया और इस प्रकार एक ऐसे विशुद्ध और सर्वांगपूर्ण व्याकरण-शास्त्र को विकसित किया, जो अन्य किसी देश मे नहीं पाया जाता।

संस्कृत व्याकरण के तीन प्रमाणभूत नाम पाणिनि, कात्यायन और पतञ्जलि हैं। पाणिनि (५०० ई० पू०) का जन्म-स्थान आधुनिक अटक के पास शालातुर नामक ग्राम था। उनका व्याकरण ४,००० सूत्रो का 'शब्दानुशासन' है, जो आठ अध्यायों में विभक्त होने के कारण 'अष्टाध्यायी' भी कहलाता है। इसका आधार लौकिक संस्कृत न होकर 'ब्राह्मण'-ग्रन्थ, 'उपनिषद्' और 'सूत्र' हैं। 'पाणिनीय व्याकरण' के नियम बीजगणित के सूत्रो की तरह इतने लघु और संक्षिप्त हैं कि विशद व्याख्या के बिना उन्हे समझना नितान्त कठिन है। उदाहरणार्थ, पाणिनि के इस सूत्र को देखिए, जिसमें केवल पाँच अक्षर हैं—'इकोयणचि'; पर जिनमें सन्धि का यह प्रमुख नियम निहित है कि 'यदि किसी शब्द के अन्त में इक् प्रत्याहार (इ, उ, ऋ और लृ) हो और उसके बाद में आनेवाले शब्द के आरम्भ मे कोई स्वर हो तो 'इक्' के स्थान पर 'यण्' (क्रमशः य, व, र और ल) हो जायगा; यथा : चक्रि+अत्र=चक्र्यत्र इत्यादि; और यदि इ, उ और ऋ के बाद ये ही स्वर हों तो दोनों मे से एक दीर्घ हो जायगा; यथा : हरि+ईश=हरीश आदि।'

'अष्टाध्यायी' में सहस्रों वर्ष पूर्व के ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, भौगो-

लिक और सामाजिक ज्ञान का भी अपूर्व समावेश हुआ है, जिसका अध्ययन डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने अपने 'पाणिनिकालीन भारत' नामक ग्रन्थ मे किया है।

पाणिनि के बाद संस्कृत भाषा का रूप और भी विकसित होता रहा तथा उसमे नये-नये शब्दों और मुहावरों का समावेश होने लगा। इसलिए कात्यायन (३०० ई० पू०) और पतञ्जलि (१५० ई० पू०) ने अपने व्याकरणों का आधार लौकिक अर्थात् प्रचलित सस्कृत को बनाया। कात्यायन ने अपने 'वार्तिक' मे पाणिनि के लगभग एक-तिहाई सूत्रो की आलोचना की; तथा उनका खण्डन अथवा परिष्कार करके उन्हे समयानुकूल बनाया। पतञ्जलि ने अपने 'महाभाष्य' में 'वार्तिक' की आलोचना की और साथ-साथ पाणिनि के सूत्रों का भी परीक्षण करके कात्यायन के कार्य को आगे बढ़ाया। व्याकरण-जैसे दुरूह विषय को सरल और सरस ढग से हृदयगम कराने में पतञ्जलि बड़े सफल हुए हैं। रचना-सौष्ठव की दृष्टि से भी उनकी कृति अद्वितीय है। उनकी प्रश्नोत्तरमयी सजीव शैली का एक उदाहरण देखिए :

"का पुनः क्रिया ? ईहा। का पुनरीहा ? चेष्टा। का पुनश्चेष्टा ? व्यापारः। सर्वथा भवान् शब्देनैव शब्दानाचष्टे। न किंचिदर्थजातं निदर्शयत्येवं जातीयिका क्रियेति। क्रिया नामेयं अत्यन्ताऽपरिदृष्टा। अशक्या क्रिया पिण्डीभूता निदर्शयितुं यथा गर्भो निर्लुठितः। साऽसावनुमानगम्या।"

अर्थात् क्रिया क्या है ? ईहा। ईहा क्या है ? चेष्टा। चेष्टा क्या है ? व्यापार। आप तो केवल शब्द से ही शब्द का अर्थ बता देते हैं। क्रिया ऐसी होती है, इस प्रकार किसी वस्तु-विशेष का निर्देश नहीं करते। क्रिया नाम की यह वस्तु अत्यन्त अदृश्य है। बिना उत्पन्न हुए गर्भ की तरह इसका भी स्थूल रूप में दिखाना असम्भव है। क्रिया अनुमान से जानी जा सकती है।

यद्यपि पाणिनि, कात्यायन और पतंजलि संस्कृत व्याकरण की 'इति' रूप थे, तथापि उनके सिद्धान्तों का विश्लेषण अथवा परिवर्धन करने के

लिए संस्कृत में अनेकानेक व्याकरण-रचनाएँ की गई। पाणिनि के समस्त सूत्रों पर सर्वश्रेष्ठ टीका 'काशिकावृत्ति' है, जिसकी रचना जयादित्य और वामन ने सातवीं शताब्दी में की थी। भर्तृहरि के 'वाक्यपदीय' (६५० ई०) में व्याकरण का भाषा-विज्ञान की दृष्टि से विवेचन किया गया है। भट्टोजी दीक्षित की 'सिद्धान्तकौमुदी' (१६५० ई०) में पाणिनि के सूत्रों को विषयवार विभाजित करके उन पर संक्षिप्त और स्पष्ट टीका लिखी गई है। सुबोध होने के कारण वह आज भी बहुत प्रचलित है। वरदराज-कृत 'मध्य-सिद्धान्त कौमुदी' और 'लघुकौमुदी' के नाम से उसका संक्षेपीकरण भी मिलता है। अन्य व्याकरण-ग्रन्थों की संख्या दर्जनों तक पहुँचती है।

कोश

संस्कृत में दो प्रकार के शब्दकोश मिलते है—पर्यायवाची और अनेकार्थवाची। उनमें केवल संज्ञाओं और अव्ययों का संकलन रहता है, क्रियाओं का नहीं। उनकी रचना कवियों के लिए शब्द-भंडार प्रस्तुत करने के उद्देश्य से की गई थी, और उनका पूरा लाभ उन्हें कंठस्थ करने में ही उठाया जा सकता है। प्राचीनतम उपलब्ध कोश छठी या सातवीं शताब्दी का 'नामलिंगानुशासन' है, जो अपने रचयिता अमरसिंह के नाम पर 'अमरकोश' भी कहलाता है। यह एक पर्यायवाची कोश है, जिसकी ५० टीकाओं में ग्यारहवीं शताब्दी के क्षीरस्वामी की टीका विशेष प्रसिद्ध है। यादवप्रकाश (६५० ई०) के बृहत् कोश 'वैजयन्ती' में लिंग, मात्रा और अकारादि क्रम से शब्द संकलित हैं। हेमचन्द्र (११०० ई०) की 'अभिधान चिन्तामणि' भी विविध शब्दों का एक महत्वपूर्ण कोष है। उनके 'निघण्टुशेष' में वानस्पतिक शब्दों का चयन किया गया है। अकबर के समय में 'पारसी प्रकाश' नामक एक फारसी-संस्कृत-कोश लिखा गया। इनके अतिरिक्त भी संस्कृत में बीसियों कोशों की रचना हुई।

छन्द.शास्त्र

पद्य प्रधान संस्कृत साहित्य मे विविध छन्दो के निर्माण और प्रयोग के लिए एक स्वतन्त्र छन्दःशास्त्र की रचना आश्चर्यजनक बात नहीं थी। 'पिंगलसूत्र' इस शास्त्र का प्राचीन प्रामाणिक ग्रन्थ है। 'श्रुतबोध' मे छन्दों की परिभाषा के साथ-साथ उनके उदाहरण भी दिये गए हैं। उसका कृतित्व कालिदास अथवा वररुचि को दिया जाता है। वराह-मिहिर (५०५-५८७ ई०) ने अपनी 'बृहत्सहिता' के एक अध्याय मे नक्षत्रों की गति के साथ-साथ छन्दों का भी वर्णन किया है। क्षेमेन्द्र (१०५०ई०) ने 'सुवृत्ततिलक' मे छन्दो के उदाहरण-रूप मे अपने ग्रन्थों के ही पद्य दिये हैं। उन्होने छन्दों के दोषों का भी सोदाहरण परिचय दिया है और यह प्रतिपादित किया है कि ग्रन्थ के स्वरूपानुसार ही छन्द प्रयुक्त करने चाहिएँ। क्षेमेन्द्र ने कवियो से नाना प्रकार के छन्दो की अपेक्षा की है, यद्यपि वे यह स्वीकार करते हैं कि महाकवियो को कोई विशिष्ट छन्द ही अधिक प्रिय होता है, जैसे पाणिनि को उपजाति, कालिदास को मन्दा-क्रान्ता, भारवि को वंशस्थ और भवभूति को शिखरिणी। हेमचन्द्र का 'छन्दानुशासन', गंगादास की 'छन्दोमजरी' तथा १५ वी शताब्दी का केदार भट्ट का 'वृत्तरत्नाकर' छन्दःशास्त्र के अन्य प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं।

दर्शन-शास्त्र

भारतीय दर्शन-शास्त्र, जिसे 'आन्वीक्षिकी' कहते हैं, दो मुख्य भागों मे बाँटा जा सकता है—आस्तिक दर्शन और नास्तिक दर्शन। आस्तिक दर्शनो के अन्तर्गत न्याय, वैशेषिक, साख्य, योग, मीमासा और वेदान्त हैं। ये सभी वेदो को प्रमाण-रूप से स्वीकार करते हैं; जब कि नास्तिक दर्शन, जिनमे चार्वाक, बौद्ध और जैन दर्शन गिने जाते हैं, वेदो का प्रमाण नहीं मानते।

न्याय-दर्शन मे तर्क और विश्लेषण की पद्धति द्वारा सत्य के निरूपण के लिए प्रमाणो का स्वरूप और उनकी संख्या निश्चित की गई है। इस

दर्शन का मूल ग्रन्थ गौतम का 'न्याय सूत्र' है, जिस पर वात्स्यायन ने ३५० ई० में 'न्यायभाष्य' लिखा। इस भाष्य की व्याख्या उद्योतकर (६२० ई०) ने अपने 'न्यायवार्तिक' ग्रन्थ में की। 'न्यायवार्तिक' पर ८५० ई० में वाचस्पति मिश्र ने 'तात्पर्यटीका' लिखी। बंगाल में 'नव्य-न्याय' के नाम से न्याय-शास्त्र की एक नई धारा प्रवाहित हुई, जिसका उदय गंगेश उपाध्याय (१२०० ई०) की 'तत्त्वचिन्तामणि' से हुआ।

न्याय-दर्शन में जहाँ अन्तर्जगत् और ज्ञान की मीमांसा है वहाँ वैशेषिक दर्शन में बाह्य जगत् की समीक्षा की गई है। उसके अनुसार आत्मा का ज्ञान तभी हो सकता है जब आत्मा से इतर पदार्थों का परिज्ञान हो। इन्हीं पदार्थों का वैशेषिक-दर्शन में विवेचन किया गया है। इस दर्शन का मूल ग्रन्थ महर्षि कणाद का 'वैशेषिक सूत्र' है, जिस पर प्रशस्तपाद ने पाँचवीं शताब्दी में 'पदार्थ धर्मसंग्रह' नामक भाष्य लिखा। दसवीं शताब्दी के बाद न्याय और वैशेषिक दोनों दर्शन समन्वित हो गए।

सांख्य द्वैतवादी दर्शन कहलाता है, क्योंकि वह जगत् के मूल में प्रकृति और पुरुष इन दो तत्त्वों को मानता है। प्रकृति यदि सक्रिय, जड और विवेकहीन है तो पुरुष निष्क्रिय, चेतन और विवेकी है। दोनों के सहयोग एवं संयोग से सृष्टि का निर्माण होता है। सांख्य-दर्शन के प्रवर्त्तक कपिल मुनि माने जाते हैं, जिन्होंने 'सांख्यसूत्र' का प्रणयन किया। सांख्य के सिद्धान्तों का प्रतिपादक प्रसिद्ध ग्रन्थ ईश्वरकृष्ण की 'सांख्य-कारिका' है, जिसका छठी शताब्दी ई० में चीनी भाषा में अनुवाद किया गया था। वाचस्पति मिश्र (८५० ई०) ने उस पर 'सांख्यतत्त्वकौमुदी' नामक सुप्रसिद्ध टीका लिखी। १६वीं शताब्दी के 'सांख्यप्रवचन भाष्य' के कर्त्ता विज्ञानभिक्षु भी सांख्य-मत के एक यशस्वी आचार्य हैं। प्राचीन सांख्य ईश्वरवादी था, किन्तु बाद में पुरुष और प्रकृति को ही सृष्टि-निर्माण में सहायक मानकर ईश्वर की सत्ता अनावश्यक सिद्ध कर दी गई।

योग-दर्शन परमात्म-तत्त्व की प्राप्ति का उपाय चित्त-वृत्ति के निरोध को मानता है। इसके लिए योग-शास्त्र के आदि-आचार्य पतञ्जलि ने

अपने 'योग सूत्र' मे आठ उपाय बतलाये हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। 'योग सूत्र' पर 'व्यास-भाष्य' लिखा गया, जिस पर वाचस्पति मिश्र की 'तत्त्व वैशारदी' और विज्ञानभिक्षु की 'योगवार्तिक' टीकाएँ सुप्रसिद्ध हैं।

मीमासा-दर्शन के जनक महर्षि जैमिनि थे। उनके 'पूर्वमीमासा सूत्र' मे इस दर्शन का विवेचन किया गया है। उनके अनुसार मोक्ष-प्राप्ति का एक-मात्र साधन वेद-विहित यज्ञ यागों का अनुष्ठान है। इसलिए जैमिनी के सूत्रों मे दार्शनिकता-जैसी चीज बहुत कम मिलेगी, उनके सूत्र वास्तव मे कर्मकाण्ड-विषयक वैदिक श्रुतियों की सम्यक् व्याख्या के लिए बनाये गए न्याय अथवा नियम है। मीमासक वेद को नित्य और अपौरुषेय तथा कर्म को ही सब फलों का दाता मानते हैं। जैमिनी के सूत्रों पर शबरस्वामी ने पाँचवी शताब्दी मे भाष्य लिखा, जिसमें उन्होंने बौद्ध-मत का तीव्र विरोध किया है। 'शबरभाष्य' की कुमारिल भट्ट और प्रभाकर ने दो प्रकार से व्याख्या की। कुमारिल के 'श्लोकवार्तिक' और 'तन्त्रवार्तिक' मीमासा-शास्त्र के प्रचार तथा बौद्ध धर्म के खण्डन मे बहुत सहायक हुए।

वेदान्त-दर्शन में कर्मकाण्ड की अपेक्षा आत्म-ज्ञान पर बल दिया गया है। 'वेदान्त सूत्र' अथवा 'ब्रह्म सूत्र' का कृतित्व बादरायण व्यास को दिया जाता है, जिस पर विभिन्न आचार्यों ने अपने-अपने मतानुसार भाष्य लिखे। इनमे सबसे प्रसिद्ध अद्वैत मत का प्रतिपादक शंकराचार्य का भाष्य (८०० ई०) है। इसके अनुसार—**'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः'**—ब्रह्म सत्य, जगत् मिथ्या तथा जीव और ब्रह्म एक एव अभिन्न हैं। शंकराचार्य ने 'उपनिषदों' और 'गीता' पर भी भाष्य लिखकर अपने मत की पुष्टि की। इनके अतिरिक्त उन्होंने 'आतमबोध' नामक लघु ग्रन्थ, जिसमे ६७ पद्यों मे वेदान्त-दर्शन का सार दे दिया गया है, तथा 'उपदेश-साहस्री' आदि अनेक ग्रन्थों और स्तोत्रों की रचना की। वाचस्पति मिश्र ने 'शाकर भाष्य' पर 'भामती' नामक टीका लिखी।

माधव कृत 'पंचदशी' तथा मधुसूदन सरस्वती-कृत 'अद्वैतसिद्धि' वेदान्त के अन्य प्रौढ और प्रसिद्ध ग्रन्थ है। १५०० ई० का सदानन्द-रचित 'वेदान्त सार' वेदान्त के प्रारम्भिक छात्रों के लिए आज तक एक सुबोध पाठ्य-ग्रन्थ है। 'ब्रह्म सूत्र' पर रामानुज, मध्व, निम्बार्क और वल्लभ ने विभिन्न दृष्टिकोणों से पाण्डित्यपूर्ण भाष्य लिखे और क्रमशः विशिष्टाद्वैत, द्वैत, द्वैताद्वैत और शुद्धाद्वैत के सम्प्रदाय चलाये। इनका भी अपना पृथक् विस्तृत साहित्य है।

धर्म-शास्त्र

संस्कृत मे विधि या कानून-विषयक साहित्य को धर्मशास्त्र की संज्ञा दी जाती है। धर्म का अर्थ यहाँ व्यापक रूप मे लिया गया है और उसके अन्तर्गत धार्मिक क्रियाएँ, कानून, आचार, व्यवहार, शिष्टाचार, देश-काल के नियम आदि दैनिक जीवन से सम्बन्धित सभी बाते शामिल हैं। इस विषय की प्राचीन रचनाएँ 'धर्मसूत्र' कहलाती हैं, पर उनमे मुख्यत: मनुष्य के धार्मिक कर्तव्यो की चर्चा है। धर्म का सर्वांगीण विवेचन धर्मशास्त्रो अथवा स्मृतियो में पाया जाता है। सर्वाधिक प्राचीन धर्मशास्त्र 'मानव धर्मशास्त्र' अथवा 'मनुस्मृति' (२०० ई०पू०) है। उसमे सृष्टि की उत्पत्ति, धर्म के स्रोत, ब्रह्मचारी, राजा, वैश्य और शूद्र के कर्तव्य, विवाह, गृहस्थाश्रम, नित्यकर्म, श्राद्ध, स्त्री-विषयक आचार, भोजन की शुद्धता, वर्णसंकरता, नागरिक और फौजदारी कानून, दान, यज्ञ, तपस्या, कर्म, मोक्ष आदि विषयो की विस्तृत समीक्षा की गई है, और इस प्रकार वह मात्र कानून की पोथी नहीं, वरन् जीवन-दर्शन का भी एक महान् ग्रन्थ है।

'मनुस्मृति' पर मेधातिथि का भाष्य और कुल्लूकभट्ट की व्याख्या बहुत प्रसिद्ध हैं। मनुस्मृति का प्रभाव भारत से बाहर भी फैला। बर्मा, स्याम, जावा और बाली का कानून बहुत-कुछ इसी स्मृति द्वारा प्रभावित है।

मनुस्मृति के बाद महत्त्व एवं प्रचार की दृष्टि से 'याज्ञवल्क्यस्मृति' (३०० ई०) की गणना की जाती है। इसमें मनु की अपेक्षा आचार-व्यवहार और प्रायश्चित्त का अधिक सुव्यवस्थित विवेचन है। विज्ञानेश्वर (१०५०-११०० ई०) नामक एक दक्षिण भारतीय ने उस पर अपनी सुप्रसिद्ध 'मिताक्षरा' टीका लिखी। १८१० ई० मे कोलब्रुक ने 'मिताक्षरा' के दायभाग-प्रकरण का अंग्रेजी अनुवाद किया था और तब से वह भारत के न्यायालयों में प्रमाण-रूप से व्यवहृत होने लगी है।

'याज्ञवल्क्यस्मृति' के बाद रची जाने वाली स्मृतियाँ संख्या मे अत्यधिक हो जाने पर उनके दैनन्दिन प्रयोग मे कठिनाई होने लगी और ऐसे 'धर्मनिबन्धो' की रचना की जाने लगी, जिनमें विभिन्न स्मृतियो के निर्णय सार-रूप मे एक ही जगह मिल जायँ।

अर्थशास्त्र

अर्थ के अन्तर्गत भारतीयों ने धन के अतिरिक्त सभी जीवनोपयोगी वस्तुओ को गिना है और इस कारण अर्थशास्त्र के क्षेत्र मे राजनीति, दण्डनीति, नीतिशास्त्र, ललितकलाएँ, उद्योग-धन्धे, शिल्प-शास्त्र, यन्त्र-शास्त्र आदि सभी लोकोपयोगी विद्याओ का समावेश हो जाता है। अर्थशास्त्र-साहित्य का सर्वोत्तम ग्रन्थ चन्द्रगुप्त मौर्य के मन्त्री कौटिल्य (चाणक्य)-कृत 'अर्थशास्त्र' (४०० ई० पू०) है। प्राचीन भारत की आर्थिक एवं राजनीतिक परिस्थितियो के परिज्ञान के लिए वह एक बहुमूल्य कृति है। राजकुमारों की शिक्षा दीक्षा, मन्त्रिमण्डल, गुप्तचर, राजदूत, अन्तःपुर, राज्य-प्रबन्ध, दुष्टो का निग्रह, व्यवहार (कानून), वस्तुओ मे मिलावट, मूल्य-नियन्त्रण, झूठे नाप-तोल को रोकने के उपाय, कूटनीति, युद्ध-संचालन, गुप्त विद्याएँ आदि अनेकानेक विषयों पर कौटिल्य ने महत्त्वपूर्ण विचार प्रकट किये हैं, जिनसे आज के परिवर्तित युग मे भी लाभ उठाया जा सकता है। 'अर्थशास्त्र' की भाषा गद्य-प्रधान है, जिसमे कहीं-कहीं पद्य भी आ गए हैं। गद्य मे सूत्र और भाष्य दोनों

शैलियों का सम्मिश्रण पाया जाता है। कौटिल्य अपने युग के क्रान्तिकारी महापुरुष थे, जिन्होंने शताब्दियों से हमारे देश मे चले आ रहे भाग्यवाद के विरोध में पुरुषार्थवाद की प्रतिष्ठा की।

कौटिल्य के बाद अनेक राजनीति-विषयक ग्रन्थ रचे गए। उनमें प्रायः कौटिल्य की ही छाप दीख पड़ती है। कामन्दकी का पद्यमय 'नीतिसार' (७०० ई०) और सोमदेव सूरि का 'नीतिवाक्यामृत' (१००० ई०) दोनों ही 'अर्थशास्त्र' के ऋणी हैं। 'शुक्रनीति' मे बारूद का भी उल्लेख हुआ है।

अर्थशास्त्र-साहित्य के अन्य विषयों पर कई चमत्कारी कृतियाँ मिलती हैं। धनुर्वेद पर विक्रमादित्य, सदाशिव और शार्ङ्गदत्त के नाम से कृतियाँ मिलती हैं। शिल्प-शास्त्र या वास्तु-विद्या (भवन-निर्माण कला) का प्रमुख ग्रन्थ 'मानसार' है। नारायण पण्डित की 'नवरत्न परीक्षा' मे हीरे-मोतियों की परीक्षा करना बताया गया है। 'मृच्छकटिक' नाटक से किसी चौर-शास्त्र के अस्तित्व का भी संकेत मिलता है और इस विषय की एक प्राप्य पुस्तक 'षण्मुखकल्प' है, जिसमें षण्मुख (कार्तिकेय) को चोरों का इष्टदेव मानकर चोरी के विविध हथकण्डे बताये गए हैं। संगीत-सम्बन्धी ग्रन्थों में कश्मीर के शार्ङ्गदेव का 'संगीतरत्नाकर' (१२०० ई०) तथा दामोदर का 'संगीत-दर्पण' है। सोमनाथ के 'रागविबोध' (१६०६ ई०) में विविध रागों की चर्चा है। चित्र-कला के विषय में संस्कृत के काव्य-साहित्य मे प्रासंगिक सामग्री बिखरी मिलती है। 'विष्णुधर्मोत्तर-पुराण' मे उस पर एक अलग प्रकरण भी है। पिछले दिनों महर्षि भरद्वाज-कृत 'यन्त्रसर्वस्व' नामक एक अपूर्व ग्रन्थ मैसूर की संस्कृत-परिषद् को प्राप्त हुआ है, जिसमे एक अध्याय विमान-विद्या पर भी है। इसमे अनेक प्रकार के हवाई जहाजों के निर्माण, उनके विविध कल-पुर्जों का सूक्ष्म विवेचन, ईंधन की जगह प्रयुक्त होने वाले अनेक प्रकार के तैल और रस, तथा वैमानिक दुर्घटनाओं के कारण और उनसे बचने के उपाय लिखे गए हैं।

काम-शास्त्र

भारतीयों ने काम का भी धर्म और अर्थ की भाँति ही सूक्ष्म अध्ययन किया। इस विषय का सबसे प्राचीन उपलब्ध ग्रन्थ वात्स्यायन मल्लनाग का 'कामसूत्र' (४०० ई०) है। यह भी बहुत-कुछ 'अर्थशास्त्र' की शैली पर रचित है। इसमें सात खण्डो मे नागरक के लक्षण, प्रेम, विवाह, स्वकीया और परकीया नारियाँ, वेश्याएँ, प्रणय-सिद्धि के नुस्खे, रति की विभिन्न प्रणालियाँ इत्यादि विषयों की मुक्त-हृदय से चर्चा की गई है। सामाजिक दृष्टि से इस ग्रन्थ का विशेष महत्त्व है। तेरहवीं शती मे यशोधर इन्द्रवर्मन् ने इस पर 'जयमंगला' नामक टीका लिखी, जो मूल ग्रन्थ के शास्त्रीय शब्दो को समझने मे सहायक है। सस्कृत के कवियों ने शृगार-रस के वर्णन मे वात्स्यायन के 'कामसूत्र' का बहुत आश्रय लिया है। वात्स्यायन के बाद भी कोक्कोल के 'रतिरहस्य' (१२०० ई०) और कल्याणमल्ल के 'अनग रग' (१६०० ई०) आदि कई काम-ग्रन्थो का प्रणयन हुआ।

अलंकार-शास्त्र

अलकार-शास्त्र अथवा साहित्य-शास्त्र काव्य के सिद्धान्तो का प्रतिपादन, उसके गुण-दोषो की आलोचना, उसकी आत्मा की समीक्षा, तथा उसके सौन्दर्यवर्धक अलकारो की विवेचना करता है। पहले तो अलंकार-शास्त्र नाट्य-शास्त्र का ही एक अंग माना जाता था, पर बाद मे उसका स्वतन्त्र रूप से अनुशीलन किया जाने लगा। काव्य की आत्मा क्या है, इस विषय को लेकर अलकार-शास्त्र के आचार्यों ने पाण्डित्यपूर्ण ऊहापोह की, फलस्वरूप रस, अलकार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि और औचित्य इन छः प्रकार के सिद्धान्तो का जन्म हुआ।

रस-सिद्धान्त का आदि-ग्रन्थ भरतमुनि-कृत 'नाट्यशास्त्र' है। इसमे मुख्यतः 'नाट्यशास्त्र' का ही विवेचन है और अलकार-शास्त्र का वर्णन गौण रूप से किया गया है। भरत के अनुसार शृंगार, करुण,

हास्य आदि कोई रस ही काव्य की आत्मा हो सकता है और इस रस की निष्पत्ति विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग से होती है (**विभावानुभावव्यभिचारिभावसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः**)। भट्ट लोल्लट, शंकुक, भट्ट नायक और अभिनव गुप्त ने इस सूत्र की व्याख्या करके चार प्रकार के मत स्थापित किये। भरत ने शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत और शान्त ये नौ प्रकार के रस माने हैं। शान्त-रस की स्थिति स्वीकार करने में आलंकारिकों में मतभेद रहा है। अन्य सिद्धान्तवादियों ने काव्य में रस के अस्तित्व को तो माना है किन्तु अपने-अपने मतानुसार उसे मुख्य या गौण स्थान दिया है।

अलंकार-सिद्धान्त का प्रतिपादक ग्रन्थ भामह (७०० ई०) का 'काव्यालंकार' है। इसके अनुसार अलंकार ही काव्य की आत्मा है। रस भी अलंकार का ही एक प्रकार है। भामह के मत का समर्थन आचार्य उद्भट और रुद्रट ने किया। रीति-सिद्धान्त रीति या शैली को ही काव्य की आत्मा मानता है और रीति काव्यगत गुणों पर निर्भर करती है। रीतियाँ वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली हैं। दण्डी (६०० ई०) ने अपने 'काव्यादर्श' में तथा वामन (८०० ई०) ने अपने 'काव्यालंकारसूत्र' में इस सिद्धान्त का पोषण किया है। दण्डी ने विभिन्न रीतियों और वामन ने अलंकारों तथा गुणों का भेद स्पष्ट किया। आचार्य कुन्तक ने 'वक्रोक्ति जीवित' में चमत्कारपूर्ण कथन (वक्रोक्ति) को काव्य का प्राण माना है, जब कि आनन्दवर्धनाचार्य (८५० ई०) ने भारत के रस-मत का विस्तार करके उसे वाच्य (कथित) न मानकर ध्वनि (रस, वस्तु या अलंकार) के माध्यम से व्यंजित (ध्वनित) माना है। आनन्दवर्धन का सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'ध्वन्यालोक' है, जिसकी अभिनव गुप्त ने टीका लिखी। क्षेमेन्द्र ने 'औचित्य-विचारचर्चा' लिखकर औचित्य को काव्य का जीवन-भूत प्रमाणित किया है।

बाद में अलंकार-शास्त्र के मुख्यतः दो सम्प्रदाय रह गए—ध्वनि सम्प्रदाय और ध्वनि-विरोधी सम्प्रदाय। ध्वनि-सम्प्रदाय के प्रमुख ग्रन्थों में,

उक्त दो कृतियों के अतिरिक्त, मम्मट का 'काव्यप्रकाश', रुय्यक का 'अलंकारसर्वस्व', हेमचन्द्र का 'काव्यानुशासन', विश्वनाथ का 'साहित्य-दर्पण' (१३०० ई०) तथा पण्डितराज जगन्नाथ का 'रसगंगाधर' उल्लेखनीय हैं। ध्वनि-विरोधी ग्रन्थों में महिमभट्ट का 'व्यक्तिविवेक', धनंजय (१००० ई०) का 'दशरूपक' तथा भोजराज के 'सरस्वतीकण्ठाभरण' और 'शृंगारप्रकाश' मुख्य हैं। इन ग्रन्थों में अलंकार-शास्त्र और नाट्यशास्त्र दोनों का वर्णन है।

चिकित्सा-शास्त्र

भारतीय चिकित्सा-शास्त्र अथवा आयुर्वेद के तीन प्रमाणभूत आचार्य चरक, सुश्रुत और वाग्भट हैं। इनके नाम से तीन वैद्यक-संहिताएँ मिलती हैं। 'चरक-संहिता' का रचना-काल प्रथम शताब्दी ई० था, क्योंकि इसके कर्त्ता चरक महाराज कनिष्क के चिकित्सक थे। यह प्रायः गद्य में लिखी गई है। शल्य क्रिया को छोड़कर चिकित्सा के सभी विषय लिये गए हैं। ८०० ई० में कश्मीर के दृढबल ने 'चरक-संहिता' में संशोधन किया था। इससे काफी पहले ही 'चरक-संहिता' का फारसी में अनुवाद हो चुका था। फारसी से वह अरबी में अनूदित की गई।

'सुश्रुत-संहिता' चरक के कुछ ही समय पश्चात् रचा गया। उसके कर्त्ता सुश्रुत का यश एक विख्यात वैद्य के रूप में नवीं-दसवीं शताब्दी में ही बृहत्तर भारत के कम्बोडिया देश तथा अरब में फैल चुका था। सुश्रुत ने शल्य-चिकित्सा पर विशेष ध्यान दिया है। चरक और सुश्रुत दोनों संहिताओं पर ग्यारहवीं शती में चक्रपाणिदत्त ने टीकाएँ लिखीं।

वाग्भट के नाम से दो चिकित्सा ग्रन्थ मिलते हैं—'अष्टांगसंग्रह' और 'अष्टांगहृदयसंहिता'। प्रथम के रचयिता वृद्ध वाग्भट ६०० ई० और दूसरी के प्रणेता वाग्भट ८०० ई० के लगभग हुए थे। ये दोनों बौद्ध थे। आठवीं या नवीं शताब्दी का माधवकर-कृत 'रुग्विनिश्चय' रोग-निदान का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। वृन्द के 'सिद्धयोग' या 'वृन्दमाधव' में

ज्वर से लेकर विष तक के सभी रोगो का उपचार बताया गया है। पशुओं की चिकित्सा पर भी ग्रन्थ रचे गए। ऋषि पालकाप्य के 'हस्त्यायुर्वेद' में हाथियों की और शालिहोत्र ऋषि के 'अश्व-शास्त्र' मे घोड़ों की चिकित्सा बताई गई है। सूरपाल के 'वृक्षायुर्वेद' मे वानस्पतिक रोगो का उपचार है। नागार्जुन के 'रसरत्नाकर'-जैसे रसशास्त्र के भी ग्रन्थ मिलते हैं, जिनमे विभिन्न धातुओं के भस्म और रसायन बनाने की विधियाँ दी गई हैं। 'धन्वन्तरि-निघण्टु' तथा 'मदनविनोदनिघण्टु' आदि चिकित्सा-विषयक शब्द-कोश हैं।

ज्योतिष

संस्कृत मे ज्योतिष-शास्त्र के अन्तर्गत खगोल-विद्या और गणित का भी विवेचन पाया जाता है। ज्योतिष मे मानव-जीवन पर नक्षत्रों की गति-विधि का प्रभाव आँका जाता है। इस विषय का शीर्षस्थानीय ग्रन्थ वराहमिहिर का 'बृहत्संहिता' है। 'बृहत्संहिता' मे ज्योतिष के अतिरिक्त अन्य कई महत्त्वपूर्ण वैज्ञानिक विषयो का विवेचन है। काव्यात्मक सौन्दर्य की भी उसमें कमी नहीं। भारतीय साहित्य का वह एक बहुमूल्य ग्रन्थ है। वराहमिहिर के बाद का ज्योतिष-साहित्य भी बहुत विस्तृत है।

खगोल-शास्त्र के उल्लेखनीय प्राचीन ग्रन्थो मे 'सूर्यसिद्धान्त', आर्यभट का 'आर्यभटीय' (४६६ ई०) तथा वराहमिहिर का 'पंचसिद्धान्तिका' है। 'आर्यभटीय' में खगोल और गणित दोनों का विवेचन है। पाश्चात्य विद्वानो के अनुसार वराहमिहिर पर यूनानी प्रभाव पड़ा है। ६२८ ई० मे ब्रह्मगुप्त ने 'ब्राह्मस्फुटसिद्धान्त' लिखा, जिसमें खगोल-विद्या का अधिक विस्तृत एवं व्यवस्थित वर्णन है।

: ९ :

जैन और बौद्ध साहित्य

जैन साहित्य

जैन-धर्म के मूल ग्रन्थ अर्धमागधी प्राकृत मे हैं। ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियो मे जैनों के दिगम्बर और श्वेताम्बर दो सम्प्रदाय हो गए। संस्कृत के पुनरुत्थान का भी यही समय था। अतएव इन सम्प्रदायों के आचार्यों ने भी अपने दृष्टिकोण का प्रचार सस्कृत में किया। इसके अतिरिक्त उन्होंने ब्राह्मणों के शास्त्रीय और वैज्ञानिक विषयो का विवेचन करने के लिए भी सस्कृत को अपनाया। व्याकरण और खगोल-शास्त्र पर इन जैनाचार्यों ने संस्कृत मे पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थ लिखे। विशुद्ध साहित्यिक पुस्तके भी रची गईं। दक्षिण की कन्नड, तमिल और तेलुगु भाषाओं के साहित्यिक विकास को जैनों ने दिशा प्रदान की। भारत के साहित्य और उसकी सभ्यता के इतिहास मे जैनो का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

जैन-धर्म के दार्शनिक सिद्धान्तों का सस्कृत मे प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थों की संख्या बहुत बड़ी है। ऐसे ग्रन्थो में सबसे प्राचीन उमास्वाति का 'तत्त्वार्थाधिगमसूत्र' है, जिसमे सूत्र और टीका-शैली मे जैन-

धर्म का संक्षिप्त सार दिया गया है। इस प्रकार के और भी कई ग्रन्थ रचे गए, जैसे समन्तभद्र की 'आप्तमीमांसा' (७०० ई०) और शुभचन्द्र का 'ज्ञानार्णव' (८०० ई०)। आठवीं सदी के विख्यात जैन-दार्शनिक हरिभद्र ने कई दर्शन-ग्रन्थों की रचना की, जिनमे सबसे मुख्य 'षड्दर्शनसमुच्चय' है। गुजरात को जैन-धर्म का सुदृढ केन्द्र बनाने का श्रेय सुप्रसिद्ध जैनाचार्य हेमचन्द्र (१०८९-११७२ ई०) को है। अपने समय के वह प्रकाण्ड पण्डित थे। व्याकरण, कोश, अलंकार-शास्त्र, छन्दः-शास्त्र, काव्य और दर्शन-जैसे विविध विषयों पर उन्होंने विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थों की रचना की। अपनी अद्भुत प्रतिभा एवं बहुज्ञता के कारण वह 'कलिकालसर्वज्ञ' कहलाते थे। 'प्रमाणमीमांसा' जैन-न्याय का उनका प्रसिद्ध ग्रन्थ है। उनके 'योगशास्त्र' मे सरल श्लोकों में जैन-धर्म का संक्षिप्त दिग्दर्शन तथा गद्य-टीका में उनकी विशद व्याख्या है। इसमे बारम्बार अहिंसा की प्रशंसा और स्त्रियों की निन्दा की गई है।

जैन कवियों ने संस्कृत मे अनेक महाकाव्य भी लिखे। उनमे अधिकतर जैन-धर्म के तीर्थंकरों का ही चरित्र अलंकृत काव्य-शैली में वर्णित है। इनमे प्रमुख हरिचन्द्र का 'धर्मशर्माभ्युदय' है, जिसमे २१ सर्गों में प्रासादिक वैदर्भी शैली मे पन्द्रहवें तीर्थंकर धर्मनाथ की जन्म से लेकर निर्वाण-पर्यन्त कथा वर्णित है। इसकी रचना सम्भवत. ११वीं शताब्दी मे हुई थी। हरिचन्द्र के नाम से 'जीवनधरचम्पू' भी मिलता है, जिसकी कथा गुणभद्र के 'उत्तरपुराण' पर आश्रित है। कालिदास के 'मेघदूत' का अनुकरण करके कुछ जैन कवियों ने सन्देश-काव्य लिखे। ८०० ई० के जिनसेन-रचित 'पार्श्वाभ्युदय' मे समस्या-पूर्ति के ढंग पर 'मेघदूत' के समस्त पद्यों के चरणों का उपयोग किया गया है। विक्रम कवि के 'नेमिदूत' में केवल चौथे चरणों को लेकर समस्या-पूर्ति की गई है। जैन ऐतिहासिक काव्यों मे हेमचन्द्राचार्य का 'कुमारपाल-चरित' उल्लेखनीय है, जिसकी रचना उन्होंने अन्हिलवाड़ा के चालुक्य-वंशी राजा कुमारपाल के सम्मान मे की थी। इस काव्य के २० सर्गों

संस्कृत और ८ प्राकृत मे है। इसके पद्य दोहरा काम करते हैं, कुमारपाल के चरित-वर्णन मे ही वे हेमचन्द्र के 'हैमव्याकरण' के नियमों का भी उदाहरण देते जाते है। इसलिए उसे 'द्वाश्रयकाव्य' भी कहते है।

जैनों का अपना समृद्ध आख्यान-साहित्य है। उनकी कहानियों में भी कथा मे उपकथा का सन्निवेश करने की शैली अपनाई गई है। जैन-कथाओं मे मनोरञ्जन की अपेक्षा उपदेशात्मक प्रवृत्ति अधिक लक्षित होती है। सबसे बृहद् कथा-संग्रह हेमचन्द्र का 'त्रिषष्टिशलाका-पुरुषचरित' है, जिसमे ६३ जैन महापुरुषों की जीवनी संकलित है। इसी ग्रन्थ के परिशिष्ट-रूप में संलग्न उनका 'परिशिष्टपर्वन्' है, जिसमें कई लोक-कथाएँ प्राकृत से संस्कृत मे अनूदित है। कुछ कथाओं में संस्कृत के सुप्रसिद्ध पात्रों का इस तरह चित्रण किया गया है, जिससे वे जैन-सिद्धान्तों के दृष्टान्त-रूप बन जायँ। जिनकीर्ति (१४५० ई०) के 'चम्पकश्रेष्ठिकथानक' तथा 'पालगोपालकथानक' में ऐसी तथा अन्य रोचक कथाएँ हैं। अज्ञात समय के 'कथाकोश' मे अशुद्ध संस्कृत गद्य और प्राकृत पद्यों में कई कथाएँ वर्णित हैं, जिनमे से एक में नल-दमयन्ती की कथा को जैन साँचे मे ढालने का प्रयास किया गया है। हिन्दू पुराणों के अनुकरण पर जैनों ने कई सन्तों के चरित्र और पुराण बनाये, जैसे रविषेण का 'पद्मपुराण' (६६० ई०), गुणभद्र का 'उत्तरपुराण' तथा जिनसेन का 'हरिवंशपुराण' (७८४ ई०)।

बौद्ध-साहित्य

बौद्धों के हीनयान और महायान दोनों सम्प्रदायों का साहित्य संस्कृत मे उपलब्ध होता है, यद्यपि यह साहित्य महायान वालों का अधिक है। हीनयान के साधक अनेक प्रयत्नों के बाद निर्वाण-प्राप्ति को सम्भव बताते हैं, जबकि महायान वाले जप, मन्त्र, पूजा, पाठ आदि के द्वारा निर्वाण को सहज-साध्य और लोक-सुलभ बना देते हैं। इन सम्प्रदायों के दो प्रमुख ग्रन्थ क्रमशः 'महावस्तु' और 'ललितविस्तर' है। 'महावस्तु'

में गद्यपद्यमयी मिश्रित संस्कृत का प्रयोग हुआ है। उसमें बुद्ध के जीवन-चरित के अतिरिक्त कई जातक-कथाएँ तथा अन्य विविध सामग्री पाई जाती है। हीनयान का ग्रन्थ होने पर भी उस पर महायान का प्रभाव स्पष्ट है। उसका महत्त्व इसलिए भी है कि उसमे ऐसी जातक और अवदान-कथाएँ पाई जाती हैं, जिनका पालि में कोई पता नहीं चलता। 'ललितविस्तर' महायान-सम्प्रदाय की कृति है, जिसमे पौराणिक ढग से बुद्ध की लोकोत्तर लीलाएँ वर्णित हैं। इसमें संस्कृत गद्य और मिश्र-संस्कृत के पद्यों का प्रयोग हुआ है। महाकाव्य न होते हुए भी उसमें काव्य के उपादान मौजूद हैं। ये दोनो ग्रन्थ बहुत प्राचीन है। 'महावस्तु' का मूल दूसरी शताब्दी ई० पू० तक चला गया है। ईसवी-सन् की प्रथम शताब्दी में 'ललितविस्तर' का एक अनुवाद चीनी भाषा मे हो गया था। दोनों पुस्तकों मे प्रक्षेप होते गए और उनका निश्चित रूप चौथी शताब्दी तक स्थिर हो गया था।

महायान सम्प्रदाय के आचार्यों में अश्वघोष (१०० ई०) अग्रगण्य हैं। कवि के अतिरिक्त वह नाटककार, स्तोत्रकार और दार्शनिक भी थे। उन्होने 'महायानश्रद्धोत्पाद' नामक महायान के तत्त्ववाद की पुस्तक लिखी है। 'गण्डीस्तोत्रगाथा' में इन्होने अपूर्व छन्द-कौशल द्वारा मनुष्यों के हृदय तक बुद्ध का सन्देश पहुँचाने की चेष्टा की है। 'शतपंचाशिका-स्तोत्र' अलंकृत शैली का स्तोत्र-काव्य है, जिसके कर्त्ता मातृचेट का नाम अश्वघोष का ही पर्याय माना जाता है।

महायान सम्प्रदाय का परिचय देने वाला सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ 'सद्धर्म-पुण्डरीक' (२०० ई०) है। उसमें बुद्ध देवाधिदेव और स्वयम्भू बन गए हैं, जो वास्तव में जन्म और मृत्यु दोनों से अतीत हैं। उसके अनुसार सत्कर्म और शुद्ध जीवन द्वारा प्रत्येक व्यक्ति बुद्ध बन सकता है। 'पुण्ड-रीक' गाथा-मिश्रित संस्कृत में रचित है। उसका २२३ ई० मे चीनी अनुवाद हो गया था। 'अवलोकितेश्वर-कारण्ड-व्यूह' कुछ बाद की रचना है, जिसमे पौराणिक शैली मे बोधिसत्त्व अवलोकितेश्वर का गुण-

गान किया गया है। अवलोकितेश्वर अनन्त दया-दृष्टि से युक्त हैं; सभी प्राणियों का दु:ख-मोचन न होने तक वह बुद्धत्व नही प्राप्त करना चाहते।

भगवान् बुद्ध के पूर्व जन्मो की घटनाओ को लेकर एक बृहद् कथा-साहित्य की रचना की गई, जो अवदान और जातक के नाम से विख्यात है। 'अवदान शतक' में इस प्रकार की १०० कथाएँ दी गई हैं। २००ई० मे यह चीनी मे रूपान्तरित हो चुका था। अवदान-साहित्य की सबसे प्रसिद्ध पुस्तक 'दिव्यावदान' है। इसकी कहानियाँ अधिकतर संस्कृत गद्य मे हैं और बीच-बीच मे प्राचीन गाथाएँ दिखाई दे जाती हैं। कभी-कभी अलंकारो से मंडित कविता के दर्शन हो जाते है। 'अवदानशतक' की कहानियों के आधार पर कई अवदान-मालाएँ रची गई। तीसरी या चौथी शताब्दी की आर्यशूर-रचित 'जातकमाला' मे ३४ कहानियाँ संकलित है। इनकी शैली अलंकृत और गद्यपद्यमयी भाषा लौकिक संस्कृत की काव्य-शैली जैसी है।

बौद्ध धर्म मे और भी कई ऐसे आचार्य हुए, जिन्होने अपनी दार्शनिक चिन्ताओ, ग्रन्थो, टीकाओं और काव्यों से संस्कृत-साहित्य को ही समृद्ध नहीं किया, वरन् अपनी प्रतिभा की कीर्ति भारत की सीमा से बाहर सुदूर पूर्व तक प्रसारित की। ऐसे आचार्यो मे नागार्जुन, आर्यदेव, वसुबन्धु, असग, शान्तिदेव आदि का नाम आज भी गौरव और श्रद्धा के साथ लिया जा सकता है।

बौद्धो ने संस्कृत मे मन्त्र-तन्त्र की भी कई पुस्तके लिखीं। मन्त्रो की पुस्तकें 'धारणी' कहलाती हैं, जिनमे सब प्रकार की बाधा दूर करने वाले जादू-टोनों के मन्त्र संगृहीत हैं। बौद्धो के तंत्रो मे सिद्धि-प्राप्ति के लिए देवता-ध्यान की मुद्राएँ बतलाई गई हैं। ये यन्त्र शाक्त और शैव तन्त्रो से प्रभावित हैं और भ्रष्ट संस्कृत में रचित हैं। भारत से विलुप्त होते समय बौद्ध-धर्म के ये मन्त्र-तन्त्र ही प्रधान सम्बल रह गए थे।

: १० :

उपसंहार

पिछले अध्यायो में संस्कृत-वाङ्मय के प्रमुख प्राचीन और मध्य-युगीन ग्रन्थो का ही संक्षिप्त दिग्दर्शन कराया गया है। सामान्य धारणा के विपरीत आधुनिक युग मे भी संस्कृत-गद्य-पद्य-रचना इतनी अधिक प्रचलित है कि उसके विवेचन के लिए स्वतन्त्र ग्रन्थ की आवश्यकता है। डॉ० एम० कृष्णमाचार्य ने अपनी 'हिस्ट्री ऑफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर' मे भारत के सभी प्रदेशो के ऐसे सैकड़ों प्रसिद्ध-अनतिप्रसिद्ध विद्वानो का उल्लेख किया है, जो विगत और वर्तमान शताब्दी मे संस्कृत-भारती के भाण्डार को अपनी अभिनव कृतियो से समृद्ध करते रहे हैं।

आधुनिक संस्कृत-लेखकों की कृतियो में स्पष्टतः वर्तमान वातावरण की छाप दिखाई पड़ती है। आंग्ल-साहित्य के प्रभाव से कई अंग्रेजी रचनाएँ अनूदित होकर संस्कृत मे आई हैं। सन् १८९२ में श्री आर० कृष्णमाचार्य ने शेक्सपियर के सुप्रसिद्ध नाटक 'मिड्समर नाइट्स ड्रीम' के आधार पर 'वासन्तिक-स्वप्न' की रचना की। इसी प्रकार 'ऑथेलो' और 'हैमलेट' के भी संस्कृत-रूपान्तर हो चुके हैं। श्री शैल दीक्षित

(१८०६-१८७७) ने 'कॉमेडी ऑफ एरर्स' का 'भ्रान्ति-विलास' के नाम से अनुवाद किया। जगद्बन्धु पण्डित ने प्रसिद्ध अरबी कथा 'सहस्ररजनी-चरित' (अरेबियन नाइट्स) का 'आरब्य यामिनी' शीर्षक से संस्कृत मे अनुवाद किया। नारायण-बालकृष्ण-कृत 'ईसब्नीतिकथा' मे ईसप की कहानियो (एसप्स फेबल्स) का संस्कृत अनुवाद है।

आधुनिक भारतीय भाषाओं की कई सुप्रसिद्ध कृतियाँ भी संस्कृत परिधान मे सजाई गई हैं। श्री भगवानदत्त शास्त्री 'राकेश' ने 'कामायनी' को प्राजल संस्कृत-पद्य मे रूपान्तरित करके प्रसादजी की अमर कृति को और भी अधिक निखार दिया है। कोल्हापुर के श्री अप्पा शास्त्री (मृत्यु १९१३) ने बंकिमचन्द्र के 'लावण्यमयी' का तथा श्री हरिचरण भट्टाचार्य (जन्म १८७९) ने उनके 'कपाल-कुण्डला' का संस्कृत-रूपान्तर किया है। भट्टाचार्य जी ने उमरखैयाम का भी ७५ शार्दूल-विक्रीडित छन्दो में बड़ा सुन्दर अनुवाद किया है। जगन्नाथ प्रसाद के 'संसार-चक्र' का सरल संस्कृत गद्यानुवाद श्री अनन्ताचार्य (जन्म १८७४) ने किया है।

भारत के स्वतन्त्रता-संग्राम से प्रभावित होकर भी सस्कृत में कई रचनाएँ बनीं। श्री विजयराघवाचार्य (जन्म १८८४) के 'गाधी-माहात्म्य', 'तिलक-वैदग्ध्य' और 'नेहरू-विजय' में क्रमशः महात्मा गाधी, लोकमान्य तिलक और पण्डित मोतीलाल नेहरू की प्रशस्तियाँ हैं। १९५१ में दिल्ली से श्री जयराम शास्त्री का 'श्री जवाहर वसन्तसाम्राज्यम्' प्रकाशित हुआ था। ऐसी रचनाओं में सबसे प्रसिद्ध पण्डिता क्षमा राव की 'सत्याग्रह-गीता' है, जिसमे गाधीजी द्वारा सचालित विभिन्न आन्दोलनो का काव्यबद्ध इतिहास है। उसका एक मधुर पद्य देखिए :

जयतु जयतु गान्धिः शान्तिभाजां वरेण्यो
यमनियमसुनिष्ठः प्रौढसत्याग्रहीन्द्रः ।
हिमरुचिरिव पूर्णः सान्द्रलोकान्धकारम्
विशदसुनयबोधैरंशुजालैर्निरस्यन् ॥

अर्थात् शान्ति के उपासको में श्रेष्ठ गाँधी सर्वत्र विजयी हो, जो व्रत-नियमों का निष्ठापूर्वक पालन करते हैं, जो प्रौढ़ सत्याग्रहियों मे अग्रगण्य हैं, जो पूर्णचन्द्र की तरह संसार के घने अन्धकार को अपने सुस्पष्ट और श्रेष्ठ राजनीतिक उपदेशों की किरणों से दूर कर देते हैं।

संस्कृत मे सामाजिक और ऐतिहासिक उपन्यासो की भी रचना हुई। बंगलौर की श्रीमती राजम्मा (जन्म १८७७) का 'चन्द्रमौलि' उपन्यास आधुनिक ढंग की रचना है, जिसमें हमारे सामाजिक जीवन और उसकी बुराइयों का चित्रण किया गया है। पण्डित अम्बिकादत्त व्यास (१८५८-१९००) का 'शिवराजविजय' छत्रपति शिवाजी के जीवन को चित्रित करने वाला एक रोचक उपन्यास है, जिसमे बाण की शैली की छटा दिखाई दे जाती है।

संस्कृत के आधुनिक उन्नायकों मे पण्डित हृषीकेश शास्त्री भट्टाचार्य (१८५०-१९१३) का नाम भी आदर के साथ लिया जायगा, जिन्होंने ४४ वर्ष तक 'विद्योदय' नामक संस्कृत-पत्रिका का सम्पादन किया था। उनकी 'प्रबन्ध-मंजरी' में प्राजल एवं प्रवाहपूर्ण सस्कृत-गद्य मे अनेक सरस एवं व्यंग्यपूर्ण निबन्ध संकलित हैं। पटना के महामहोपाध्याय पण्डित रामावतार शर्मा (१८७८-१९२९) संस्कृत के एक प्रकाण्ड साहित्यकार थे, जिन्होंने कई काव्यों तथा 'हर्षनैषधीयम्' नामक नाटक की रचना की। उनका 'भारतीयमितिवृत्तम्' अनुष्टुप् छन्द में रचित भारत का एक लघु साहित्यिक इतिहास है। महामहोपाध्याय परमेश्वर झा ने 'मेघदूत' की उपयुक्त परिणति के रूप मे एक 'यक्ष-मिलन-काव्य' लिखा। 'मंजु-कवितानिकुञ्ज' जयपुर के भट्ट मथुरानाथ शास्त्री (जन्म १८९०) का काव्य-संग्रह है, जिसमे उन्होंने पाश्चात्य रंग मे रँगे हमारे वर्तमान सामाजिक जीवन पर चुटकियाँ ली हैं। भट्टजी ने हिन्दी, उर्दू और फ़ारसी के अनुकरण पर संस्कृत मे नवीन छन्द-रचना की है। सौराष्ट्र के श्री मूलशंकर याज्ञिक (जन्म १८८६) ने 'छत्रपति साम्राज्य', 'प्रतापविजय' और 'संयोगितास्वयंवर' नामक तीन ऐतिहासिक नाटक लिखे हैं।

जोधपुर के आशुकवि पण्डित नित्यानन्द शास्त्री ने भगवान् राम पर 'श्री रामचरिताब्धिरत्नम्' नामक एक महाचित्रकाव्य लिखा है, जिसके श्लोकों के आदिम अक्षरों से मूल रामायण (संक्षिप्त रामचरित) का सारा पाठ हो जाता है। वहीं के महामहोपाध्याय पण्डित विश्वेश्वरनाथ रेऊ के 'आर्यविधानम्' में प्राचीन स्मृतियों के विधानों का वर्तमान न्यायालयों के निर्णयों की दृष्टि से आधुनिकीकरण किया गया है। महामहोपाध्याय डॉ० गंगानाथ झा, पण्डित बटुकनाथ शर्मा, महामहोपाध्याय श्री प्रमथनाथ तर्कभूषण, विद्यावाचस्पति पण्डित मधुसूदन झा, विद्या-मार्तण्ड पण्डित सीताराम शास्त्री, महामहोपाध्याय पण्डित शिवकुमार शास्त्री, पण्डित विद्याधर शास्त्री, श्री विधुशेखर भट्टाचार्य, श्री सुब्रह्मण्यम् सूरि, पण्डित छज्जूराम शास्त्री, श्री वेंकटेश वामन सोवानी, महामहो-पाध्याय पण्डित गंगाधर शास्त्री तैलंग, महामहोपाध्याय पण्डित लक्ष्मण शास्त्री द्रविड़, श्री नारायण शास्त्री खिस्ते, श्री गणपति शास्त्री, श्री लक्ष्मण सूरि, श्री कृष्णराम, श्री महालिंग शास्त्री आदि ने भी अपनी विविध कृतियों से संस्कृत की श्री-वृद्धि की है। इनके अतिरिक्त और भी अनेकानेक संस्कृत विद्वान् हैं, जिनका यहाँ स्थानाभाव से उल्लेख नहीं किया जा सका है। संस्कृत-लेखन की परम्परा को जीवित रखने में इन सभी का बड़ा योग माना जायगा।

सहायक ग्रन्थ

१ इण्डियाज पास्ट : ए. ए. मैकडॉनेल (ऑक्सफोर्ड, १६२७)

२. ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर : ए० बी० कीथ (लन्दन १६४८)

३. कालिदास-ग्रन्थावली : स० सीताराम चतुर्वेदी (काशी, संवत् २००७)

४. दशकुमारचरित : अनु० निरंजनदेव (१६५२)

५. दि संस्कृत ड्रामा : ए० बी० कीथ (ऑक्सफोर्ड, १६५४)

६. नैषधीयचरित : अनु० चण्डिकाप्रसाद शुक्ल (देहरादून, १६५१)

७ पञ्चतन्त्र : अनु० मोतीचन्द्र (बम्बई, १६५२)

८. भरत नाट्यशास्त्र : अनु० भोलानाथ शर्मा (कानपुर, १६५४)

६. भारत की कहानी : (प्रसार-वार्ताओं का संग्रह— दिल्ली, १६५४)

१०. मेघदूत : एक अध्ययन : वासुदेवशरण अग्रवाल (बम्बई, १६५३)

११ विश्व-धर्म-दर्शन : साँवलिया बिहारीलाल शर्मा (पटना, १६५३)

१२ वैदिक साहित्य : रामगोविन्द त्रिवेदी (काशी, १६५०)

१३. शूद्रक : चन्द्रबली पाण्डे (काशी, १६५३)

१४. संस्कृत गद्य मंजरी : चन्द्रशेखर पाण्डे और शान्तिकुमार नानूराम व्यास (कानपुर, १६५३)

१५ संस्कृत लिटरेचर : के० चन्द्रशेखरन् और वी० एच० सुब्रह्मण्य शास्त्री (बम्बई, १६५१)

१६ संस्कृत वाङ्मय : बलदेव उपाध्याय (काशी, १६५१)

१७. संस्कृत व्याकरण-शास्त्र का इतिहास : युधिष्ठिर मीमासक (देहरादून, १६५२)

१८. संस्कृत साहित्य का इतिहास : बलदेव उपाध्याय (काशी, १६४८)

१६. संस्कृत साहित्य की रूपरेखा : चन्द्रशेखर पाण्डे और शान्तिकुमार नानूराम व्यास (कानपुर, १६५४)

२०. संक्षिप्त वाल्मीकि रामायण . शान्तिकुमार नानूराम व्यास (दिल्ली, १६५५)

२१. हर्षचरित, एक सांस्कृतिक अध्ययन : वासुदेवशरण अग्रवाल : (पटना, १६५३)

२२. हिन्दुस्तान की कहानी : जवाहरलाल नेहरू (नई दिल्ली, १६४७)

२३. हिस्ट्री ऑफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर : एम० कृष्णमाचार्य (मद्रास, १६३७)

२४ हिस्ट्री ऑफ इंडियन लिटरेचर—१ : एम० विण्टरनित्स (कलकत्ता, १६२७)

२५. हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर : एस० एन० दासगुप्ता और एस० के० दे (कलकत्ता, १६४७)